

पिपास - पातुमिच्छ त्वम् । वस्तिमोक्षं - लिङ्गविकारकरणम् । वृष्यं - शुक्रवृद्धिकरम् ।
 स्त्रीशयनादिकं - कामिन्यङ्गस्पर्शवत्संस्पर्शशय्यासनादिस्पर्शस्यापि कामिनां प्रीत्युत्पत्तिनिमित्तत्वात् । मा
 दाः - मा देहि, मा व्यापारयेत्मर्थः । वराडे - भगे । सत्कुरु - सम्मानय । संस्कुरु -
 वस्त्रमाल्यादिभिरलंकुरु । बृत्तं - पूर्वानुभूतम् । स्मर स्म मा । तथ ताभिः सह मया क्रीडितमिति मा स्म
 चिन्तय इत्यर्थः । वत्स्यत् - भविष्यत् ॥ ६१ ॥

ब्रह्मचर्यकेदस प्रकारोंकी सिद्धिकेलिए दस प्रकारकेअब्रह्मको प्रेरणा करते हैं -

हे आर्य ! दस प्रकारके ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिए दस प्रकारके अब्रह्मका सेवन मत
 करो । प्रथम, कामिनियोंके रू पादि रसका पान करनेकी इच्छा मत करो । अर्थात् चक्षुसे उनके
 सौन्दर्यका, जिह्वासे उनके ओष्ठरसका, धाणेन्द्रियसे उनके उच्छ्वास आदिकी सुगन्धका, स्पर्शन इन्द्रियसे
 उनके अंगस्पर्शका और श्रोत्रसे गीत आदिके शब्दका परिभोग करनेकी अभिलाषा मत करो । दूसरे, अपने
 लिंगमें विकार उत्पन्न मत करो । तीसरे, वीर्य वृद्धिकारक दूध, उडद आदिका सेवन मत करो । चौथे,
 स्त्री शय्या आदिक सेवन मत करो क्योंकि स्त्रीके अंगके स्पर्शकी तरह उससे संसक्त शय्या, आसन
 आदिका स्पर्श भी रागकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है । पाँचवें, स्त्रीके गुप्तांगपर दृष्टि मत डाल । छठे,
 अनुरागवश नारीका सम्मान मत कर । सातवें, वस्त्र, माला आदिसे स्त्रीको सज्जित मत कर । आठवें,
 पहले भोगे हुए मैथुनक स्मरण मत कर । नौवें, आगामी भोगकी इच्छा मत कर कि मैं देवांगनाओंके साथ
 अमुक-अमुक प्रकारसे मैथुन करूँ गा । दसवें, इष्ट विषयोंका सेवन मत कर ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ - भगवती आराधनामें [गा. ८७९- ८०] अब्रह्मके दस प्रकार कहे हैं - स्त्री सम्बन्धी
 विषयोंकी अभिलाषा, लिंगके विकारको न रोकना, वीर्यवृद्धिकारक आहार और रसका सेवन करना,
 स्त्रीसे संसक्त शय्या आदिका सेवन करना, उनके गुप्तांगको ताकना, अनुरागवश उनका सम्मान करना,
 वस्त्रादिसे उन्हें सजाना, अतीत कालमें की गयी रतिका स्मरण, आगामी रतिकी अभिलाषा और इष्ट
 विषयोंका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म हैं । इनसे निवृत्त होना दस प्रकारका ब्रह्मचर्य है ॥ ६१ ॥

१ . इच्छिविषयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।

संसत्तदव्वसेवा तदिंदिया लोयणं चेव ॥

सक्कारो संकारी अदीदसुमिरणमणागदभिलासे ।

इडुविषयसेवा वि य अव्वंभं दसविहं एदं ॥

अथ विषयवर्गस्य मनोविकारकारित्वं मुनीनामपि दुर्वारमिति परं तत्परिहारे विनेयं सज्जयति -

यद्वयद्धुं धुणवद वज्रमीष्टे न विषयव्रजः ।

मुनीनामपि दुष्प्रापं तन्मनस्तत्तमुत्सृज ॥ ६२ ॥

वाद्धुं (व्यद्धुं) - वो (-वे-) धितुं विकारयितुमित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अथ स्त्रीवैराग्यपञ्चकभावनया प्राप्तस्त्रीवैराग्यो ब्रह्मचर्यं वर्धस्वेति शिक्षयति -

नित्यं कामाडनासडदोषाशौचानि भावयन् ।

कृतार्यसडतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥ ६३ ॥

सडः - संसर्गः - । प्रत्यासत्तेरडनाया एव । अथवा कामाडनासडडेति पाठयम् । स्त्रीषु - मानुषी-
तिरश्चीदेवीषु तत्प्ररू पक्नेषु च विरक्तः - संसर्गादेर्निवृत्तः ।

तदुक्तम् -

मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरू पकम् ।

स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम् ॥ [] ॥ ६३ ॥

अथ अष्टाभिः पद्यैः कामदोषान् व्याचिख्यासुः प्रथमं तावद्योन्यादिरिरंसायाः
प्रवृत्तिनिमित्तकथनपुरस्सरं तीव्रदुःखकरत्वं वदन्भणित्या प्रकाशयति -

विषय मनमें विकार पैदा करते हैं जो मुनियोंको द्वारा भी दुर्निवार होता है । इसलिए
अभ्यासियोंको उनका त्याग करनेकी प्रेरणा करते हैं -

जैसे घुन वज्रको नहीं छेद सकता, उसी तरह इन्द्रियोंके विषयोंका समूह जिस मनको विकारयुक्त
नहीं करता वह मन मुनियोंको भी दुर्लभ है अर्थात् विषय मुनियोंके मनमें भी विकार पैदा कर देते हैं ।
इसलिए तू उन विषयोंको त्याग दे ॥ ६२ ॥

आगे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली पाँच भावनाओंके द्वारा स्त्रीसे विरक्त होकर ब्रह्मचर्यको
बढानेकी शिक्षा देते हैं -

हे साधु ! काम, स्त्री और स्त्री-संसर्गके दोष तथा अशौचका निरन्तर विचार करते हुए ज्ञानवृद्ध
तपस्वी जनोंके साहचर्यमें रहकर तथा स्त्री- विषयक अभिलाषाको दूर करके ब्रह्मचर्य व्रतको उन्नत कर ॥
६३ ॥

विशेषार्थ - स्त्रीवैराग्यका मतलब है स्त्रियोंकी अभिलाषा न करना, उनसे रमण करनेकी इच्छाकी
निवृत्ति । उसके बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया जा सकता । तथा उसके लिए पाँच भावनाएँ
आवश्यक हैं । काम - सेवन, स्त्री और स्त्रीसंसर्गके दोष तथा उनसे होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन
और ज्ञानी - विवेकी तपस्वीजनोंका सहवास । सत्संगतिमें बडे गुण हैं । जैसे कुसंगतिमें दुर्गुण हैं वैसे ही

सत्संगतिमें सद्गुण हैं । अतः ब्रह्मचर्यव्रतीको सदा ज्ञानी तपस्वियोंको सहवास करना चाहिए तथा कामभोग, स्त्री - सहवास आदिके दोष, उनसे पैदा होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन करते चाहिए ॥ ६३ ॥

आगे ग्रन्थकार आठ पद्योंसे कामके दोषोंका कथन करना चाहते हैं । उनमें - से सर्व- प्रथम योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छाके तथा उसमें प्रवृत्तिके निमित्तोंका कथनपूर्वक उसे वक्रोक्तिके द्वारा तीव्र दुःखदायक बतलाते हैं -

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोपासनादपि ।

पुंवेदोदीरणात् स्वस्थः कः स्यान्मैथुनसंज्ञया ॥ ६४ ॥

वृष्येत्यादि - वृष्यानां कामवर्धनोद्दीपनानां क्षीरशर्करादीनां भोजनेन रम्योद्यानादीनां च सेवनेन । पुंवेदोदीरणात् - पुंसो वेदो योन्यादिरिरंसा संमोहोत्पादनिमित्तं चारित्रमोहकर्मविशेषः तस्य उदीरणा-दुभवादान्तरङ्गनिमित्तादुद्भूतया मैथुनसंज्ञया - मैथुने रते संज्ञा वाञ्छा तथा । तस्याश्चाहारादिसंज्ञावत्तीव्र दुःख - हेतुत्वमनुभवसिद्धमागमसिद्धं च ।

तथा ह्यागमः -

इह जाहि बाहिया वि जीवा पावन्ति दारुणं दुक्खम् ।

सेवंता वि य उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥[गो. जी. १३४]

कामका वर्धन और उद्दीपन करनेवाले पदार्थोंको भोगसे और उपयोगसे, तथा कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और पुरुषवेदकी उदीरणासे होनेवाली मैथुन संज्ञासे कौन मनुष्य सुखी हो सकता है ? ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ - चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर रागविशेषसे आविष्ट स्त्री और पुरुषोंमें जो परस्परमें आलिंगन आदि करनेकी इच्छा होती है उसे मैथुन संज्ञा कहते हैं । स्त्री स्त्रीके साथ और पुरुष पुरुषके साथ या अकेला पुरुष और अकेली स्त्री मैथुनके अभिप्रायसे जो हस्त आदिके द्वारा अपने गुप्त अंगका सम्मर्दन करते हैं वह भी मैथुनमें ही गर्भित है । मैथुनके लिए जो कुछ चेष्टाएँ की जाती हैं उसे लोकमें सम्भोग श्रृंगार कहते हैं । कहा है - हर्षातिरेकसे युक्त सहृदय दो नायक परस्परमें जो- जो दर्शन और सम्भाषण करते हैं वह सब सम्भोग श्रृंगार है ।

इस मैथुन संज्ञाके बाह्य निमित्त हैं दूध आदि वृष्य पदार्थोंका भोजन और रमणीक वनोंमें विहार तथा स्त्री आदिके व्यसनोमें आसक्त पुरुषोंकी संगति । और अन्तरंग निमित्त है पुरुषवेदकी उदीरणा । पुरुषवेदका मतलब है योति आदिमें रमण करनेकी इच्छा । पुरुषवेद कर्म चारित्र मोहनीय कर्मकी भेद है । यहाँ पुंवेदका ग्रहण इसलिए किया है कि चूँकि पुरुष ही मोक्षका अधिकारी होता है इसलिए उसकी

मुख्यता है। वैसे वेद मात्रका ग्रहण अभीष्ट है। अतः स्त्रीवेद और नपुंसकवेद भी लेना चाहिए। कोमलता, अस्पष्टता, बहुकामावेश, नेत्रोंमें चंचलता, पुरुषकी कामना आदि स्त्रीभाववेदके चिह्न हैं। इससे विपरीत पुरुषभाववेद है। और दोनोंका मिला हुआ भाव नपुंसकभाववेद है। भाववेदकी उदीरणा मैथुन संज्ञाका अन्तरंग कारण है। आगम में कहा है - कामोद्दीपक पदार्थोंका भोजन करनेसे, कामोद्दीपक बातोंमें उपयोग लगानेसे, कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और वेदकर्मकी उदीरणासे इन चार कारणोंसे मैथुन संज्ञा होती है।

लोगोंके मनमें यह भ्रान्त धारणा है कि मैथुन संज्ञामें सुख है। संज्ञा मात्र दुःखका कारण है। कहा है - इस लोकमें जिनसे पीडित होकर भी तथा सेवन करते हुए भी जीव भयानक दुःख पाते हैं वे संज्ञाएँ चार हैं - आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

१. अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिध्दमुदौ।

आलोकनवचनादिः स सर्वः संभोगश्रृङ्गारः ॥

अपि च -

परितप्यते विषीदति शोचति विलपति च खिद्यते कामी।

नक्तं दिवं न निद्रां लभते ध्यायति, च विमनस्कः ॥ [] ॥ ६४ ॥

अथ बहिरात्मप्राणिगणस्य कामदुःखाभिभवदुर्निवारतामनुशोचति -

संकल्पाण्डकजो द्विदोषरसनश्चिन्तारुषो गोचर -

च्छिद्रो दर्पबृहद्रदो रतिमुखो ह्रीकञ्चुकोन्मोचकः।

कोऽप्युद्यद्दशवेगदुःखगरलः कन्दर्पसर्पः समं,

ही दन्दष्टि हठद्विवेकगरुडक्रोडादपेतं जगत् ॥ ६५ ॥

संकल्पः - इष्टाङ्गनादर्शनात्तां प्रत्युत्कण्ठागर्भोऽध्यवसायः। द्विदोषं - रागद्वेषी। चिन्ता - इष्टाङ्गना - गुणसमर्थनतद्दोषपरिहरणार्थो विचारः। गोचरः - रूपादिविषयाः। बृहद्रदः - दंष्ट्रा सा चेहतालुगता। कोऽपि - अपूर्वः। सप्तवेगविषो हि शास्त्रे सर्पः प्रसिद्धः। यद्वाग्भटः -

कामी पुरुषोंकी दुर्दशाका वर्णन काव्य - साहित्य तकमें भी किया है। यथा -कामी पुरुष परिताप करता है, खेद - खिन्न होता है, दुःखी होता है, शोक करता है, विलाप करता है। दिन-रात सोता नहीं है और विक्षिप्त चित्त होकर किसीके ध्यानमें मग्न रहता है।

एक कामी कहता है -बडा खेद है कि मैंने सुखके लोभसे कामिनीके चक्करमें पडकर उत्कण्ठा, सन्ताप, घबराहट, नीदका न आना, शरीरकी दुर्बलता ये फल पाया ।

और भी कहा है -स्त्रीके प्रेममें पडे हुए मूढ मनुष्य खाना- पीना छोड देते हैं, लम्बी - लम्बी साँसे लेते हैं, विरहकी आगसे जलते रहते हैं । मुनीन्द्रोंको जो सुख है वह उन्हें स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं होता॥ ६४ ॥

दुर्निवार कामविकारके दुःखसे अभिभूत संसारके विषयोंमें आसक्त प्राणियोंके प्रति शोक प्रकट करते हैं -

कामदेव एक अपूर्व सर्प है । यह संकल्परू पी अण्डेसे पैदा होता है । इसके रागद्वेषरू पी दो जिह्वाएँ हैं । अपनी प्रेमिका- विषयक चिन्ता ही उसका रोष है । रू पादि विषय ही उसके छिद्र हैं । जैसे साँप छिद्र पाकर उसमें घुस जाता है उसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि देखकर कामका प्रवेश होता है । वीर्यका उद्रेक उसकी बडी दाढ है जिससे वह काटता है । रति उसका मुख है । वह लज्जारू पी केंचुलीको छोडता है । प्रतिक्षण बढते हुए दस वेग ही उसका दुःखदायी विष है । खेद है कि जाग्रत् विवेकरू पी गरुडकी गोदसे वंचित इस जगत्को वह कामरू पी सर्प बुरी तरह डँस रहा है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ - यहाँ कामदेवकी उपमा सर्पसे दी है । सर्प अण्डेसे पैदा होता है । कामदेव संकल्परू पी अण्डेसे पैदा होता है । किसी इच्छित सुन्दरीको देखकर उसके प्रति उत्कण्ठाको लिये हुए जो मनका भाव होता है उसे संकल्प कहते हैं । उसीसे कामभाव पैदा होता है । पञ्चतंत्रमें कहा है -

१ . सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ।

रत्तिंदिया य णिदं ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥[भ. आ. ८८४ गा.]

पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यस्त्रक् ।

श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटिकाः ॥

द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये दूर्ध्वगौरवम् ।

दृग्रोधो दंशविक्लेश्चतर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥

संधिविश्लेषणं तन्द्रा पञ्चमे पर्वभेदनम् ।

दाहो हिध्मा तु षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥

मर्छा विपाकोऽतीसारः प्राप्य शुक्रं च सप्तमे ।

स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सर्वचेष्टानिर्वर्तनम् ॥ [अष्टाड. उक्त. ३६।१९-२२]

समं - सर्व युगपद्वा । यल्लोकः -

उच्छु सरासणु कुसुमसरु अंगु ण दीसइ जासु ।

हलि म (त) सु मयण महाभडह तिहुवणि कवणु ण दासु ॥ []

दंदष्टि - गर्हितं दशति । गर्हा चात्र वृध्देष्वप्यतिज्वलनादनौचित्यप्रवृत्ता । हठन् - (दे -)
दीप्यमानो बलात्कारयुक्तो वा ॥ ६५ ॥

हे कामदेव ! मैं तुम्हारा स्वरूप जानता हूँ । तू संकल्पसे पैदा होता है । मैं संकल्प नहीं करूँ गा । तब तू कैसे पैदा होगा । सर्पकोद्विजिह्वकहते हैं । उसके दो जिह्वा होती हैं । राग - द्वेष कामकी दो जिह्वाएँ हैं । सर्प जब काटता है तो बड़े रोषमें होता है । इच्छित स्त्रीके गुणोंका चिन्तन ही कामका रोष है उससे वह और भी प्रबल होता है । इसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि वे छिद्र हैं जिनको देखकर कामरूपी सर्प प्रवेश करता है । साँपके दाढ़ होती है जिससे वह काटता है । वीर्यका उद्रेक ही कामरूपी सर्पकी दाढ़ है । रति उसका मुख है । साँप केचुली छोडता है । कामदेव भी लज्जारूपी केंचुली छुडाता है । कामी मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है । सर्पमें जहर होता है । कामके दस वेग ही उसका जहर है । और इसीसे कामको अपूर्व सर्प कहा है क्योंकि सर्पके विषके सात वेग प्रसिध्द हैं । वाग्भटने कहा है - पहले वेगमें मनुष्यका रक्त काला पड जाता है, नेत्र - मुख वगैरहपर कालिमा आ जाती है । शरीरमें कीडे रेंगते प्रतीत होते हैं । दूसरे वेगमें रक्तमें गाँठें पड जाती हैं । तीसरेमें सिर भारी हो जाता है । दृष्टिमें रुकावट आ जाती है । चौथेमें वमन होती है । शरीरकी सन्धियाँ ढीली पड जाती हैं । मुँहमें इलाग आने लगते हैं । पाँचवे वेगमें शरीरके पर्व अलग होने लगते हैं, जलन पडती है, हिचकी आती है । छठेमें हृदयमें पीडा होती है, शरीरमें भारीपन आ जाता है, मूर्छा, दस्त आदि होते है । सातवें वेगमें कन्धा, पीठ, कमर भंग हो जाती है और अन्तमें मृत्यु हो जाती है । इस तरह साँपके तो सात ही वेग हैं किन्तु कामरूपी सर्पके दस वेग हैं जो आगे बतलयेंगे । अतः कामरूपी सर्प अन्य सर्पोंसे भी बढकर होनेसे अपूर्व है । गरुड साँपका दुश्मन है । जो उसके समीप होते हैं उन्हें साँप नहीं डँसता । इसी तरह जो कामके दोषोंका विचार करते रहते हैं उनको कामरूपी सर्प नहीं डँस रखा है । कहा भी है - हे सखि ! ईख तो उसका धनुष है, पुष्प बाण है और उसका शरीर दिखाई नहीं देता । फिर भी यह काम बडा वीर है । तीनों लोकोंमे कौन उसका दास नहीं है ॥ ६५ ॥

अथ कामस्य दश वेगानाह -

शुग्दिवृक्षायतोच्छ्वासज्वरदाहाशनारुचीः ।

समूर्च्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना ॥ ६६ ॥

स्पष्टम् । उक्तं च -

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ।

तृतीये निश्वसित्युच्चैश्चतुर्थे ढौकते ज्वरः ॥

पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते ।
प्रयाति सप्तमे मूर्छा प्रोन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥
न वेत्ति नवमे किञ्चिन्म्रियते दशमेऽवशः ।
संकल्पस्य वशेनैव वेगास्तीव्रास्तथाऽन्यथा ॥ [अमित भ. आरा. ९०७-९०९]

लोकेत्विमा कामस्य दशावस्था -

आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तांना दश दशा ज्ञेयाः ॥ [काव्यालंकार १४४-५] ॥ ६६ ॥

आगे कामके दस वेगोंको हेतु सहित कहते हैं -

इच्छित स्त्रीकेन मिलनेपर मनुष्यकी दस अवस्थाएँ होती हैं - १ श्लोक, २ देखनेकी इच्छा, ३ दीर्घ उच्छ्वास, ४ ज्वर, ५ शरीरमें दाह, ६ भोजनसे अरुचि, ७ मूर्छा, ८ उन्माद, ९ मोह, और १० मरण ॥ ६६ ॥

विशेषार्थ - भगवती आराधना [८९३-८९५] में कामके दस वेग इस प्रकार कहे हैं -कामी पुरुष कामके प्रथम वेगमें शोक करता है । दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है । तीसरे वेगमें साँसें भरता है । चौथे वेगमें उसे ज्वर चढता है । पाँचवें वेगमें शरीरमें दाह पडती है । छठे वेगमें खाना- पीना अच्छा नहीं लगता । सातवें वेगमें मूर्च्छित होता है । आठवें वेगमें उन्मत्त हो जाता है । नौवें वेगमें उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता । दसवें वेगमें मर जाता है । इस प्रकार कामान्ध पुरुषके संकल्पके अनुसार वेग तीव्र या मन्द होते हैं । अर्थात् जैसा संकल्प होता है उसीके अनुसार वेग होते हैं क्योंकि काम संकल्पसे पैदा होता है ॥ ६६ ॥

१. ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते।
२. दशमे मुच्यतेऽसुभिः। संकल्पतस्ततो वेगास्तीव्रा मन्दा भवन्ति हि । - अमित भ. आ. ९०९ ।
३. पढमे सोयदि वेगे दट्टुं तं इच्छिदे विदियवेगे ।
णिस्सदि तदिये वेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥
डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होई अड्डमए ॥
णवमे ण किञ्चि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥

अथ कामार्तस्य किमप्यकृत्यं नास्तीति ज्ञापयति -

अविद्याशाचक्र- प्रसृमर - मनस्कारमरुता,
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्स्नामिव चितम् ।
रिरंसुः स्त्रीपडेकृमिकुलकलडे विधुरितो,
नरस्तन्नास्त्यस्मिन्नहह सहसा यन्न कुरुते ॥ ६७ ॥

आशा - भाविविषयाकाङ्क्षा दिशश्च । चक्रप्रसृमरः - चक्रेण संघातेन सन्तानेन पक्षे
मण्डलाकारेण प्रसरणशीलः । मनस्कारः - चित्तप्रणिधानम् । चित्तं - चेतनाम् । कृमयः - योनिजन्तवः ।
यद्वात्स्यायनः -

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥ [] ॥ ६७ ॥

अथ ग्राम्यसुखोत्सुकबुध्देर्धनार्जन - कर्मसाकल्यश्रमाप्रगुणत्वमशेषयोषिदयन्त्रणान्तः करणत्वं च
व्याचष्टे -

आपातमृष्टपरिणामकटौ प्रणुन्नः, किंमाकवन्निधुवने मदनग्रहेण ।
किं किं न कर्म हतशर्म धनाय कुर्यात्, क्व क्व स्त्रियामापि जनो न मनो विकुर्यात् ॥ ६८
॥

आपातमृष्टं - उपयोगोपक्रमे (- मृष्टं -) मधुरं सुखवदाभासनात् । उक्तं च -

आगे कहते हैं कि कामसे पीडित मनुष्यकेलिए कुछ भी अकरणीय नहीं है -

जैसे अज्ञात दिशाओंसे बहनेवाले वायुमण्डलसे प्रेरित आग जब इस तरह तीव्र रूपसे जलने
लगती है कि मानो वह सब कुछ जलाकर भस्म कर देगी, तब उससे अत्यन्त घबराया हुआ मनुष्य
कीड़ोंसे भरे हुए कीचडमें भी गिरनेको तैयार हो जाता है । उसी तरह शरीर और आत्माके भेदको न
जानकर भावी भोगोंकी इच्छाओंकी बहुलता सम्बन्धी संकल्पविकल्परूप वायुसे प्रेरित कामाग्नि इस
प्रकार जलने लगती है मानो समस्त चेतनाको खा जायेगी । उस समय यह कामी मनुष्य कामसे पीडित
होकर कीड़ोंसे भरे हुए स्त्रीयोनिमें रमण करनेकी इच्छासे ऐसा कोई भी अकृत्य इस जगत्में नहीं है
जिसे वह न करता हो यह बड़े खेद और आश्चर्यकी बात है । अर्थात् कामाग्निके प्रदीप्त होनेपर व्याकुल
हुआ मनुष्य कीचडेक तुल्य स्त्रीमें रमण करनेकी इच्छासे सभी अकृत्य कर डालता है ॥ ६७ ॥

विशेषार्थ - स्त्रीको ऐसी कीचडकी उपमा दी है जिसमें कीडे बिलबिलाते हैं । जैसे कीचडमें फँसकर निकलना कठिन होता है वैसे रागमें फँस जानेपर उससे निकलना कठिन होता है । तथा स्त्रीकी योनिमें ऐसे जन्तु कामशास्त्रमें बतलाये हैं जिनसे स्त्रीको पुरुषके संसर्गकी इच्छा होती है । कहा है - स्त्रियोंकी योनिमें रक्तजन्य सूक्ष्म कीट होते हैं जो रिरंसाके कारणभूत खाजको उत्पन्न करते हैं ॥ ६७ ॥

आगे कहते हैं कि विषय सुखकी उत्सुकतासे मनुष्य रात दिन धन कमानेके साधनोंमें जुटा रहता है और उसका मन सभी स्त्रियोंके प्रति अनियन्त्रित रहता है -

मैथुन किंमाक फलके समान प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु परिणाममें कटु है । कामरू पी भूतकी द्वारा बहुत अधिक प्रेरित होकर मैथुन सेवनमें प्रवृत्त हुआ मनुष्य धनके लिए कौन - कौन कष्टदायक व्यापार नहीं करता और किस - किस स्त्रीमें अपने मनको विकारयुक्त नहीं करता अर्थात् मानुषी, देवी, तिरश्ची, निर्जीव स्त्रियों तकमें अपने मनको विकृत करता है ॥ ६८ ॥

रम्यमापातमात्रेण परिणामे तु दारुणम् ।

किंमाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥ []

क्व क्व स्त्रियां - मनुष्यां देव्यां तिरश्च्यां निर्जीवायां वा ॥ ६८ ॥

अथ कामाग्नेरचिकित्स्यतामाचष्टे -

ज्येष्ठज्योत्स्तेऽमले व्योम्नि मूले मध्यन्दिने जगत् ।

दहन् कथंचित्तिग्मांशुश्चिकित्स्यो न स्मरानलः ॥ ६९ ॥

ज्योत्स्नः - शुक्लपक्षः । अमले - निरभ्रे । मूले - मूलनक्षत्रे ।

यल्लोके -

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि

प्रालेयसीकरमपस्तुहिनांशुभासः ।

यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि

निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥ []

अपि च -

चन्द्रः पतडति भुजडति हारवल्ली

स्त्रक् चन्दनं विषति मुर्मुर्तीन्दुरेणुः ।

तस्याः कुमार ! भवती विरहातुरायाः किन्नाम ते कठिनचित्त ! निवेदयामि ॥[

] ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ - एक कविने लिखा है - कामी पुरुष ऐसा कोई काम नहीं है जिसे नहीं करता । पुराणोंमें कहा है कि कामसे पीडित ब्रह्माते अपनी कन्यामें, विष्णुने गोपिकाओंमें, महादेवने शन्तनुकी पत्नीमें, इन्द्रने गौतम ऋषिका पत्नी अहिल्यामें और चन्द्रमाने अपने गुरुकी पत्नीमें मन विकृत किया । अतः मैथुनके सम्बन्धमें जो सुख की भ्रान्त धारणा है उसे दूर करना चाहिए । विषय सेवन विष सेवनके तुल्य है ॥ ६८ ॥

आगे कहते हैं कि कामाग्निका कोई इलाज नहीं है -

ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षमें, मेघरहित आकाशमें, मूल नक्षत्रमें, मध्याह्नके समयमें जगत्को तपानेवाले सूर्यका तो कुछ प्रतिकार है, शीतल जल आदिके सेवनसे गर्मी शान्त हो जाती है किन्तु कामरू पी अग्निका कोई इलाज नहीं है । ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ - ज्येष्ठ मासके मध्याह्नमें सूर्यका ताप बड़ा प्रखर होता है किन्तु उसका तो इलाज है - शीत- ताप - नियन्त्रित कमरेमें आवास, शीतल जलसे स्नान- पान आदि । किन्तु कामाग्निकी शान्तिका कोई इलाज नहीं है । कहा है -हार, जलसे गीला वस्त्र, कमलिनीके पत्ते, बर्फके समान शीतल जलकण फेंकनेवाली चन्द्रमाकी किरणों, सरस चन्दनका लेप, ये जिसके ईंधन हैं अर्थात् इनके सेवनसे कामाग्नि अधिक प्रज्वलित होती है वह कामाग्नि कैसे शान्त हो सकती है?

फिर सूर्य तो केवल दिनमें ही जलाता है और कामाग्नि रात -दिन जलाती है । छाता वगैरहसे सूर्यके तापसे बचा जा सकता है किन्तु कामाग्निके तापसे नहीं बचा जा सकता सूर्य तो शरीरको ही जलाता है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥ ६९ ॥

१. जेड्ढामूले जोण्हे सूरुो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।

ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतउ कामो॥ - भ. आरा. ८९६ गा. ।

अथ कामोद्रेकस्य सहसा समग्रगुणग्रामोपमर्दकत्वं निवेदयति -

कुलशीलपोविद्याविनयादिगुणोच्चयम् ।

दन्दह्यते स्मरो दीप्तः क्षणात्तृण्यामिवानलः ॥ ७० ॥

विनयादि - आदिशब्दात् प्रतिभा - मेधा - वादित्व - वाग्मिन्त्व - तेजस्वितादयः । यन्नीति इ

निकामं सक्तमनसा कान्तामुखविलोकने ।

गलन्ति गलिताश्रूणां यौवनेन सह श्रियः []

दंदह्यते - गर्हितं दहति । गर्हा चात्र लौकिकालौकिकगुणग्रामयोरविशेषेण भस्मीकरणादवतरति ।
तृण्यां इ तृणसंहतिम् ॥ ७० ॥

अथ

आसंसारप्रवृत्तमैथुनसंज्ञ

आसमुद्भूताखिलदुःखानुभवधिककाराग्रतःसरन्तन्निग्रहापायमावेदयन्नाह इ

निःसंकल्पात्मसंवित्सुखरसशिखिनानेन नारीरिरंसा-

संस्कारेणाद्य यावद्धिगहमधिगतः किं किमस्मिन्न दुःखम् ।

तत्सद्यस्तत्प्रबोधच्छिदि सहजचिदानन्दनिष्यन्दसान्द्रे

मज्जाम्यस्मिन्निजामत्मन्ययमिति विधमेत् काममुत्पित्सुमेव ॥ ७१ ॥

रसः - पारदः । तत्प्रबोधच्छिदि - नारीरिरंसासंस्कारप्राकट्यापनोदके । विधमेत् - विनाशयेत् ।
उत्पिसुं - उत्पत्त्यभिमुखम् ।

तथा चोक्तम् -

शश्वद्दुःसहदुःखदानचतुरो वैरी मनोभूरयं

न ध्यानेन नियम्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम् ।

देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलं

वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥ [] ॥ ७१ ॥

आगे कहते हैं कि कामका वेग शीघ्र ही समस्त गुणोंको नष्ट कर देता है -

जैसे आग तृणोंकेसमूहको जलाकर भस्म देती है वैसे ही प्रज्वलित कामविकार कुल, शील, तप,
विद्या, विनय, आदि गुणोंके समूहको क्षण- भरमें नष्ट कर देती है ॥ ७० ॥

विशेषार्थ - कामविकार मनुष्यके लौकिक और अलौकिक सभी गुणोंको नष्ट कर देता है । वंश -
परम्परासे आये हुए आचरणको कुल कहते हैं । सदाचारको शील कहते हैं । मन और इन्द्रियोंके
निरोधको तप कहते हैं । ज्ञानको विद्या कहते हैं । तपस्वी और ज्ञानीजनोंके प्रति नम्र व्यवहारको विनय
कहते हैं । आदि शब्दसे प्रतिभा, स्मृति, तेजस्विता, आरोग्य, बल, वीर्य, लज्जा, दक्षता आदि लिये जाते हैं
॥ ७० ॥

जबसे संसार है तभीसे मैथुन संज्ञा है। उससे होनेवाले समस्त दुःखोंके अनुभवसे जो उसके प्रति धिक्कारकी भावना रखनेमें अगुआ होता है उसे उसके निग्रहका उपाय बताते हैं -

निर्विकल्प स्वात्मानुभूतिसे होनेवाले सुखरूप रसको जलानेके लिए अग्निके तुल्य स्त्रीमें रमण करनेकी भावनासे आज तक मैंने इस संसारमें क्या क्या दुःख नहीं उठाये, मुझे धिक्कार है। इसलिए तत्काल ही स्त्रीमें रमण करनेकी भावनाके प्रकट होते ही उसका छेदन करनेवाले, स्वाभाविक ज्ञानानन्दके पुनःपुनः प्राकट्यसे घनीभूत अपनी इस आत्मामें लीन होता हूँ। इस उपायसे उत्पत्तिके अभिमुख अवस्थामें ही कामका निग्रह करना चाहिए ॥ ७१ ॥

एवं कामदोषान् व्याख्याय इदानीं षड्भिः पद्यैः स्त्रीदोषान् व्याचिकीर्षुः तद्दोषज्ञातृत्वमुखेन पाण्डित्य-प्रकाशनाय मुमुक्षुभिमुखीकुर्वन्नाह -

पत्यादीन् व्यसनार्णवे स्मरवशा या पातयत्यञ्जसा,
या रुष्टा न महत्त्वमस्यति परं प्राणानपि प्राणिनाम् ।
तुष्टाऽप्यत्र पिनष्टयमुत्र च नरं या चेष्टययन्तीष्टितो
दोषाज्ञो यदि तत्र योषिति सखे दोषज्ञ एवासि तत् ॥ ७२ ॥

पिनष्टि - संचूर्णयति सर्वपुरुषार्थोपमर्दकरत्वात् । इष्टितः - स्वेच्छातः । दोषज्ञ एव - विद्वानेव ॥
७२ ॥

विशेषार्थ - यह जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता। इसने अनादिकालसे शरीरमें ही आत्मबुद्धि की हुई है। उसीके साथ अपना जन्म और मरण मानता है। फलतः पुद्गलमें इसकी आसक्ति बनी हुई है। जबतक इसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक यह आसक्ति नहीं हट सकती और आत्माके भेदज्ञान करानेकी सख्त जरूरत है। शरीरसे भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिके लिए शरीर और आत्माका भेदज्ञान आवश्यक है। वह होनेपर ही अपनी ओर उपयोग लगानेसे स्वात्मानुभूति होती है। किन्तु उस अनुभूतिकी बाधक है मैथुन संज्ञा। अतः मैथुनकी भावनासे मनको हटाकर आत्मभावनामें मन लगानेके लिए आत्माके स्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिए। उससे ज्यों - ज्यों आत्माभिरुचि होती जायेगी त्यों - त्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी और ज्यों - ज्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी त्यों - त्यों आत्माभिरुचि बढ़ती जायेगी। यह आत्माभिरुचि ही स्वात्मानुभूतिकी पृष्ठभूमि है। उसके बिना ब्रह्मचर्यआत्मामें आचरणहै ॥ ७१ ॥

पहले ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिए स्त्रीवैराग्यकी कारण पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश दिया था। उनमें - से कामदोष भावनाका व्याख्यान पूर्ण हुआ। आगे छह पद्योंसे स्त्री - दोष भावनाका कथन करते हुए मुमुक्षुको उनके जाननेको यह कहकर प्रेरणा करते हैं जो स्त्रियोंके दोषोंको जानता है वही पण्डित है

जो स्त्री कामके वशमें होकर पति - पुत्र आदिको दुःखके सागरमें डाल देती है और सचमुचमें रुष्ट होनेपर प्राणियोंके महत्त्वका ही अपहरण नहीं करती किन्तु प्राणों तकका अपहरण कर डालती है । तथा सन्तुष्ट होनेपर भी अपनी इच्छानुसार चेष्टाएँ कराकर पुरुषको इस लोक और परलोकमें पीस डालती है । इसलिए हे मित्र ! यदि तुम स्त्रीकेदोषोंको जानते हो तो तुम निश्चय ही दोषज्ञ - विद्वान् हो ॥ ७२ ॥

विशेषार्थ - जो वस्तुओंके यथार्थ दोषोंके जानता है उसे दोषज्ञ अर्थात् विद्वान् कहते हैं । यह बात प्रसिद्ध है । संस्कृत अमरकोशमें लिखा है -विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः [२।७।५] अर्थात् विद्वान्, विपश्चिद्, दोषज्ञ ये विद्वान् पण्डिके नाम हैं । ग्रन्थकारका कहना है कि सभी दूषित वस्तुओंके दोषोंको जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोंको नहीं जानता तो वह विद्वान् नहीं है । किन्तु जो अन्य वस्तुओंके दोषोंको जानकर या नहीं जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोंको जानता है तो वह विद्वान् है ॥ ७२ ॥

अथ स्त्रीणां निसर्गवञ्चकत्वेन दुःखैककारणत्वमुपदर्शयन् लोकस्य ततः स्वतश्च मुग्धत्वमुद्भावयति -

लोकः किन्तु विदग्धः किंविधिदग्धः स्त्रियं सुखाङ्गेषु ।
यद्धुरि रेखयति मुहुर्विश्रम्भं कृन्ततीमपि निकृत्या ॥ ७३ ॥

विधिदग्धः - दैवेन प्लुष्टः मतिभ्रष्टः कृतः । अथवा विधिर्विहिताचरणं दग्धोऽस्येति ग्राह्यम् ।
रेखयति - रेखयतां करोति गणयतीत्यर्थः । निकृत्या - लक्षयति -

अथ स्त्रीचरित्रं योगिनामपि दुर्लक्षमिति लक्षयति -

परं सूक्ष्ममपि ब्रह्म परं पश्यन्ति योगिनः ।
न तु स्त्रीचरितं विश्वमतद्विद्यं कुतोऽन्यथा ॥ ७४ ॥

अतद्विद्यं - स्त्रीचरितज्ञानशून्यं महर्षिज्ञानपूर्वकत्वात् सर्वद्यानाम् । श्लोकः -

मायागेहं (ससन्देहं) नृशंसं बहुसाहसम् ।
कामर्षेः स्त्रीमनोलक्ष्यमलक्ष्यै योगिनामपि ॥ [] ॥ ७४ ॥

अथ स्त्रीणां दम्भादिदोषभूयिष्ठतया नरकमार्गाग्रेसरत्वं निवेदयन् दुर्देवस्य तत्पथप्रस्थानसूत्रधारतां प्रत्याचष्टे -

दोषा दम्भतमस्सु वैरगरलव्याली मृषोद्यातडिन् -
मेघाली कलहाम्बुवाहपटलप्रावृड् वृषौजोज्वरः ।
कन्दर्पज्वररुद्रभालदृगसत्कर्मोर्मिमालानदी,
स्त्री श्वभ्राध्वपुरःसरी यदि नृणां दुर्देव किंताम्यसि ॥ ७५ ॥

आगे कहते हैं - स्त्रियाँ स्वभावसे ही ठक विद्यामें कुशल होनेसे एकमात्र दुःखकी ही कारण होती हैं फिर भी लोग उनके विषयमें सदा मूढ ही बने रहते हैं -

पता नहीं, संसारके प्राणी क्या व्यवहारचतुर है या दैवने उनकी मति भ्रष्ट कर दी है जो वे छलसे बार- बार विश्वासघात करनेवाली भी स्त्रीको सुखके साधनोंमें सबसे प्रथम स्थान देते हैं ॥ ७३ ॥

विशेषार्थ - विदग्धका अर्थ चतुर भी होता है और वि - विशेषरूपसे दग्ध अर्थात् अभाग भी होता है । उसीको लेकर ग्रन्थकारने लोगोंके साथ व्यंग किया है कि वे चतुर हैं या अभागे हैं ?

आगे कहते हैं कि स्त्रीका चरित्र योगियोंके लिए भी अगम्य है -

योगिजन अत्यन्त सूक्ष्म भी परम ब्रह्मको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लेते हैं किन्तु स्त्रीके चरितको नहीं जानते । यदि जानते तो वह विश्व स्त्रीचरितके ज्ञानसे शून्य क्यों रहता ? अर्थात् इस विश्वको जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है वह योगियोंके द्वारा ही प्राप्त हुआ है । यतः संसार स्त्रीचरितको नहीं जानता । अतः प्रतीत होता है कि योगियोंको भी स्त्रीचरितका ज्ञान नहीं था ॥ ७४ ॥

आगे मायाचार आदि दोषोंकी बहुलताके कारण स्त्रियोंको नरकके मार्गका अग्रेसर बतलाते हुए दुर्देवके नरकके मार्गमें ले जानेकी अगुआईका निराकरण करते हैं -

जो मायारूपी अन्धकारके प्रसारके लिए रात्रि है, वैररूपी विषके लिए सर्पिणी है , असत्यवादरूपी बिजलीके लिए मेघमाला है, कलहरूपी मेघोंके पटलके लिए वर्षाऋतु है,

१. कामान्धैः भ. कु. च. ९

वृषौजोज्वरः - वृषो धर्मः स एव ओजः शुक्रान्तधातुपरमतेजः ।

ओजस्तेजोधातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्

इत्यभिधानात् । तत्र ज्वरसंहर्तृत्वात् । तदुक्तम् -

ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोशनान्तकः ।

क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोभदवः ॥[अष्टाडहृदय २।१] ॥ ७५ ॥,

अथ स्त्रीणां रागद्वेषयोः परां कोटिमार्षुमुपपत्तिं दर्शयति -

व्यक्तं धात्रा भीरुसर्गावशेषौ रागद्वेषौ विश्वसर्गे विभक्तौ ।

यद्रक्ता स्वानप्यसून् व्येति पुंसे पुंसोऽपि स्त्री हन्त्यसून् द्राग्विरक्ता ॥ ७६ ॥

व्यक्तं - अहमेव मन्ये । भीरुसर्गः - स्त्रीसृष्टि । व्येति - विलभते ददातीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अथ सुचरितानां सदाचारविशुद्धयर्थं दृष्टान्तमुखेन स्त्रीचरितभावनामुपदिशति -

रक्ता देवरतिं सरित्यवनिपं रक्ताऽक्षिपत् पडके

कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधीच्छित्वा सपत्नीशिरः ।

शूलस्थेन मलिम्लुचेन दलितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति -

च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा ॥ ७७ ॥

रक्ता - राज्ञीसंज्ञेयम् । रक्ता - आसक्ता । द्रवन्तं - पलायमानं । मलिम्लंचेन - अंगारकनाम्ना
चौरेण ॥ ७७ ॥

धर्मरू पी ओजके विनाशके लिए ज्वर है, कामज्वरके लिए शिवका तीसरा नेत्र है, पापकर्मरू पी
तरंगमालाकेलिए नदी है ऐसी स्त्री यदि नरककेमार्गकी अगुआ है तो हे दुर्देव, तू क्यों वृथा कष्ट उठाता
है ? उक्त प्रकारकी नारीसे ही पुरुषोंका नरकमें प्रवेश निश्चित है ॥ ७५ ॥

स्त्रियोंमें राग और द्वेषकी चरम सीमा बतलानेकेलिए उसकी उपपत्ति दिखाते हैं -

मैं ऐसा मानता हूँ कि सृष्टिको बनानेवालेने रागद्वेषमयी स्त्रीकी रचना करके शेष बचे रागद्वेषको
विश्वकी रचनामें विभक्त कर दिया अर्थात् शेषसे विश्वकी रचना की । क्योंकि स्त्री यदि पुरुषसे अनुराग
करती है तो उसकेलिए धनादिकी तो बात ही क्या, अपने प्राण तक दे डालती है । और यदि द्वेष करती
है तो तत्काल ही पुरुषकेप्राण भी ले डालती है । इस तरह स्त्रीमें राग और द्वेषकी चरम सीमा है ॥ ७६ ॥

सम्यक् चारित्रिका पालन करनेवालोंके सदाचारकी विशुद्धिके लिए दृष्टान्त रूपसे स्त्रीचरितकी
भावनाका उपदेश देते हैं -

एक पैरहीन पुरुषपर अनुरक्त होकर रक्ता नामकी रानीने अपने पति राजा देवरतिको नदीमें फेंक दिया। गोपवतीने सौतका सिर काटकर भागते हुए पतिको मार डाला। सूलीपर चढ़े हुए अंगारक नामक चोरके द्वारा काटे गये ओष्ठको वीरवतीने अपने पतिके द्वारा काटा हुआ कहा। इस प्रकारके स्त्रीचरितका चरित्रवानोंको सदा विचार करना चाहिए ॥ ७७ ॥

१. - मादेष्टु - भ. कु. च. L

अथ त्रयोदशभिः पद्यैः स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यातुकामस्तासामुपपत्तिपूर्वकं
दूरपरिहार्यत्वमादावनुशास्ति -

सिद्धिःकाऽप्यजितेन्द्रियस्य किल न स्यादित्यनुष्ठीयत,

सुष्ट्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो दक्षैः स च स्याद् ध्रुवम् ।

चेतःसंयमनात्तपः श्रुतवतोऽप्येतच्च तावद् भवेद्,

यावत्पश्यति नाडनामुखमिति त्याज्याः स्त्रियो दूरतः ॥ ७८ ॥

कापि - ऐहिकी पारत्रिकी वा। अडनामुखं - प्रशस्तमड यस्या साऽडना, तस्या वक्त्रम्। उपपत्ति - मात्रार्थमडनाग्रहणं स्त्रीमात्रसंसर्गोऽपि सद्वृत्तविप्लवोपलम्भात्। अत एव त्याज्याः स्त्रिय इति सामान्येनोक्तम्।

द्वयमेव तपः सिद्धा बुधाः कारणमूचिरे।

यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संगलापनं तनोः ॥[यशस्तिलक १।८१] ॥ ७८ ॥

विशेषार्थ - भगवती आराधना गा. १४९, ५०, ५१ में उक्त दृष्टान्त आते हैं। यथा -साकेत नगरीका राजा देवरति अपनी रानी रक्तामें अति आसक्तिके कारण राज्यसे निकाल दिया गया। मार्गमें रक्ता एक पंगुल गायकपर आसक्त हो गयी और उसने अपने पतिको छलसे नदीमें डुबो दिया। गोपवती बड़ी ईर्ष्यालु थी। उसका पति सिंहबल उससे पीडित होकर चला गया और उसने वहाँ अपनी शादी कर ली। गोपवतीने जाकर अपनी सपत्नीका सिर काट लिया। और जब उसका पति लौटकर आया तो उसे भी मार डाला। वीरमती एक चोरपर आसक्ता थी। राजाने चोरको सूली दे दी। रातमें उठकर वीरमती चोरसे मिलने गयी और चोरने उसका ओठ काट लिया। राजाने उसके पतिको प्राणदण्ड दिया। किन्तु पतिके मित्रने यह सब चरित्र देखा था उसने राजासे कहा। तब उसका पति बचा। ये तीनों कथाएँ हरिषेण रचित कथाकोशमें क्रमसे ८५, ८६, ८७ नम्बरपर हैं ॥ ७७ ॥

आगे ग्रन्थकार तेरह पद्योंसे स्त्री - संसर्गके दोष कहना चाहते हैं । सबसे प्रथम उपपत्तिपूर्वक उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागनेकी सलाह देते हैं -

आगममें कहा है - जिसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं उसे कोई भी इस लोक सम्बन्धी या परलोक सम्बन्धी इष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होती । इसलिए परलोकमें अर्थकी सिद्धिके लिए उसके साधनमें तत्पर चतुर मनुष्य अच्छी तरहसे इन्द्रियोंको जीतते हैं । इन्द्रियोंका जय मनके निरोधसे होता है । किन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुषोंका भी मनोनिरोध तब होता है जब वह स्त्रीका मुख नहीं देखता । अतः मुमुक्षुओंको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग करना चाहिए ।। ७८ ॥

१ . साकेतपुराधिबदी देवरदी रज्ज- सुक्ख - पब्भट्टो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥
ईसालुयाए गोववदीए गामकूटधूदिया सीसं ।
छिण्णं पहदो तध भल्लएण पासम्मि सिंहवलो ॥
वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाय वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओटठोत्ति आलविदोड ॥

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणादिपरम्परया पुंसस्तन्मयत्वपरिणतिमावेदयति -

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमो भ्रमयति स्वान्तं नृणां धूर्तवत्,
तस्माद् व्याधिभरादिवोपरमति व्रीडा ततः शाम्यति ।
शडा वह्निरिवोदकात्तत उदेत्यस्यां गरोः स्वात्मवद्,
विश्वासः प्रणयस्ततो रतिरलं तस्मात्ततस्तल्लयः ॥ ७९ ॥

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमः शोभने दर्शनमात्रान्मनोहरणक्षमे भ्रूवौ यस्याः सा सुभ्रूस्तस्या बिभ्रमो रागोद्रेकाद् भ्रूपर्यन्तविक्षेपः, तत्र संभ्रमो निरीक्षणादरः । भ्रमयति - अन्यथावृत्तिं करोति व्याकुलयति वा । धूर्तवत् - धतूरकोपयोगो यथा । शडा - भयम् । कामातुराणां न भयं न लज्जाइत्यभिधानात् । गुरोः - अध्यात्म - तत्त्वोपदेशकात् । स्वात्मवत् - निजात्मनि यथा ॥ ७९ ॥

विशेषार्थ - आचार्य सोमदेवने कहा है - जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं उसका कार्य सिद्ध नहीं होता डा तथा और भी कहा है -विद्वानोंने तपकी सिद्धिमें दो ही कारण कहे हैं - अंगना कहते हैं । अतःअंगनाका ग्रहण ता उपपत्ति मात्रके लिए है, । स्त्री मात्रके संसर्गसे भी सदाचारमें गडबडी देखी जाती है ॥ ७८ ॥

आगे कहते हैं कि स्त्रीके कटाक्ष आदिको देखते - देखते मनुष्य तन्मय हो जाता है -

जिस स्त्रीकी भों देखने मात्रसे मनको हर लेती है उसे सुभ्रू कहते हैं । जब वह रागके उद्रेकसे भों चढाकर दृष्टिपात करती है तो उसको रागपूर्वक देखनेसे मनुष्योंका मन वैसा ही भ्रमित हो जाता है जैसा रागके आधिक्यमें लज्जा नहीं रहती । लज्जाके चले जानेसे वैसे ही लज्जा चली जाती है जैसे रागके आधिक्यमें लज्जा नहीं रहती । लज्जाके चले जानेसे वैसे ही भय चला जाता है जैसे पानीसे आग । कहा भी है कि काम - पीडितोंको न भय रहता है न लज्जा रहती है । भय शान्त हो जानेसे कामीको स्त्रीमें वैसा ही विश्वास उत्पन्न होता है जैसा गुरुके उपदेशसे उसकी अध्यात्मवाणीको सुनकर अपनी आत्मामें श्रद्धा उत्पन्न होती है । और जैसे गुरुके उपदेशसे अपनी आत्मामें रुचि होती होनेके बाद आत्मरति होती है वैसे स्त्रीसे प्रेमपचिय होता है और जैसे गुरुके उपदेशसे आत्मरतिके पश्चात् वह आत्मामें लय हो जाता है वैसे ही कामी स्त्री रति होनेपर उसीमे लय हो जाता है ॥ ७९ ॥

विशेषार्थ - यहाँ स्त्रीमें विश्वास, प्रणय, रति और लयकों क्रमसे आत्मामें विश्वास, प्रणय, रति और लयकी उपमा दी है । दोनों दो छोर हैं - एक रागका है और दूसरा विरागका । रागकी चरम परिणति स्त्रीके साथ रतिके समयमें होनेवाली तल्लीनता है । उस समय भी यह विवेक नहीं रहता कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और यह सब क्या है । इसीसे काव्यरसिकोंने उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । आचार्य जयसेनने समयसारकी टीकामें सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनको वीतराग स्वसंवेदन कहा है । इसपर - से यह शंका की गयी कि क्या स्वसंवेदन सराग भी होता है जो आप स्वसंवेदनके साथ वीतराग विशेषण लगाते हैं ? उत्तरमें आचार्यने कहा है कि विषयानन्दके समय होनेवाले स्वसंवेदन सराग है । उसीसे निवृत्तिके लिए वीतराग विशेषण लगाया है । उसी सबको दृष्टिमें रखकर यहाँ ग्रन्थकारने

अथ कामिनीकटाखनिरीक्षणस्यापातमात्ररमणीयत्वपरिणामात्यन्तदारुणत्वे वक्रभणित्युपपत्त्या प्रतिपादयति-

--

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेऽप्यन्य एवाग्निरक्षणो-

रेणाक्षीणां कथमितरथा तत्काटाक्षाः सुधावत् ।

लीढा दृग्भ्यां ध्रुवमपि चरद् विष्वगप्यप्यणीयः,

स्वान्तं पुंसां पविदहनवद्गधुमन्तर्ज्वलन्ति ॥८०॥

मते---चक्षुस्तैजसं रश्मिवत्त्वात्प्रदीपवादिति वैशेषिकदर्शने । अपिशब्दादभ्युपगमसिद्धान्ताश्रयणेन

विचार्यमाण इति लक्षयति । अन्य एव---

भासुररूपीष्णस्पर्शगुणयोगित्वसंयुक्तबाह्यस्थूलस्थिरमूर्तद्रव्यदाहित्वलक्षणादग्नेर्विलक्षण एव । लीढा:---

आस्वादिताः। सतर्षमालोकिता इत्यर्थः । ध्रुवमपि---नित्यरूपतयाऽविकार्यमपि । चरद्विष्वगपि---समन्ताद्

भ्रमदपि । तदुत्कम्----

घक्रियाऽन्यत्र क्रमेण स्यात्, कियत्स्वेव च चस्तुषु ।

अप्यणीयः---परमाणोरप्यतिशयेन सूक्ष्मं योगिभिरपि दुर्लक्षत्वात् ॥८०॥

उक्त उपमा दी है ऐसा प्रतीत होता है । पं. आशाधरने टीकामें गुरुड का अर्थ अध्यात्मा तत्त्वका उपदेशक किया है। अध्यात्म तत्त्वका उपदेश सुने बिना न अपनी आत्माका बोध होता है और न श्रद्धा । श्रद्धाके पश्चात् ही आत्माके प्रति रुचि बढ़ती है । रुचि बढ़ते-बढ़ते रति पैदा हो जाती है । जैसे रागी स्त्रीरतिके लिए घर-द्वार सब भुला बैठता है और स्त्रीके लिए मजनू बन जाता है । वैसे ही आत्मरतिके पीछे मनुष्य विरागी बनकर घर-द्वारको तिलांजलि देकर केवल अपने शरीरकेसिवा सब कुछ छोडकर निकल पडता है, वनमें और एकान्तमें आत्मारतिमें निमग्न होकर उसीमें लय हो जाता है । रागी भी यही सब करता है किन्तु अपनेको ही भुला बैठता है वह परके पीछे दावाना होता है । विरागी छस्वडके पीछे दीवाना होता है । इतर ही अन्तर है भोगी और योगीमें ॥७९॥

कामिनियोंके कटाक्षका अवलोकन प्रारम्भमें ही मनोरम लगता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त भयानक है, सह बात वक्रोक्तिकेद्वारा कहते हैं----

चक्षु तैजस है । इस वैशेषिक मतमें भी कामिनियोंके लोचनोंमें भास्वररूप और उष्ण स्पर्श-गुणवाली अग्निसे कोई भिन्न ही आगा रहती है । यदि ऐसा न होता तो मनुष्योंके नेत्रोंके द्वारा अमृतकी तरह पान किये गये उनके कटाक्ष मनुष्योंके नित्य और अलात चक्रकी तरह सर्वत्र धूमनेवाले अणुरूप भी मनको वज्राग्निकी तरह जलानेकेलिए क्यों आत्माके भीतर प्रज्वलित होते ॥८०॥

विशेषार्थ--वैशेषिक दर्शन चक्षुको तैजस मानता है और तेज अर्थात् अग्नि गर्म होती है, जलाती है । तथा मनको अणुरूप नित्य द्रव्य मानता है । यतः वैशेषिक दर्शनमें आत्मा व्यापक है और मन अणुरूप है अतः मन आत्मानसे सम्बद्ध होते हुए अलात चक्रकी तरह घूमता रहता है । यह सब उनकी मान्यता है । उसीको लेकर ग्रन्थकारने व्यंग किया है कि स्त्रियोंके नेत्र भी तैजस हैं किन्तु उनकी विचित्रता यह है कि मनुष्य उन्हें अमृत मानकर अपनी आँखोंसे पी जाते हैं जबकि बाह्य अग्निको पीना सम्भव नहीं है । किन्तु पीनेके बाद मनुष्यका मन कामिनीके वियोगमें जला करता है अतः कामिनीकी आँखोंमें इस बाह्य आगसे भिन्न कोई दूसरी ही आग बसती है ऐसा लगता है ॥ ८० ॥

अथ कामिन्याः कटाक्षनिरीक्षणद्वारेण तत्क्षणान्तरहृदये स्वरूपभिव्यक्तिकर्तृत्वाशक्तिं विदग्धोत्था प्रकटयति---

हृद्यभिव्यञ्जती सद्यः स्वं पुंजोऽपाङ्गःवल्गितैः ।

सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो ॥ ८१ ॥

सत्कार्यवादं ---

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ [सांख्यका.९]

इति सांख्यामतम् । आहत्य --- हठात् न प्रमाणबलात् । सत्यापयति --- सत्यं करोति । अहो ---
कष्टमाश्चर्यं वा ॥ ८१ ॥

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणपराणां युक्तायुक्तविवेचनशून्यतां प्रभूतां भवानुबन्धिनीं
वक्रभणित्योपपादयति ---

नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाद्गः

स्त्रीणां विषं वमति किच्चदचिन्त्यशक्ति ।

नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा

जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनान्तः ॥ ८२ ॥

गलितः --- प्रच्युतो भ्रष्टप्रभावो वा जातः ॥ ८२ ॥

कटाक्ष निरीक्षणके द्वारा तत्काल ही मनुष्यके हृदयमें अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करनेकी शक्ति
कामिनीमें है यह बात विदग्धोत्तिकेद्वारा बतलाते हैं ---

यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है की अपने नेत्रोंके कटाक्षोंके द्वारा पुरुषके हृदयमें अपनेको
अभिव्यक्त करती हुई कामिनी बिना प्रमाणके ही बलपूर्वक सांख्यके सत्कार्यवादको सत्य सिद्ध करती हैं
॥८१ ॥

विशेषार्थ --- सांख्यदर्शन कार्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं मानता, अविर्भाव और तिरोभाव
मानता हैं । उसका मत है कि कारणमें कार्य पहलेसे ही वर्तमान रहता है, बाह्य समाग्री उसे व्यक्त करती
है । उसका कहना है कि असत्की उत्पत्ति नहीं होती, कार्यकेलिए उसकेउपादानको ही ग्रहण किया जाता
है जैसे घटकेलिए मिट्टी ही ली जाती है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती, निश्चित कारणसे ही निश्चित
कार्यकी उत्पत्ति होती है, जो कारण जिस कार्यको करनेमें समर्थ होता है वह अपने शक्य कार्यको ही
करता है तथा कारणपना भी तभी बनता है जब कार्य सद्गुरु है अतः कार्य सद्रूप ही है । इसी सिद्धान्तको
लेकर ग्रन्थकार कहते हैं --- कामी मनुष्य स्त्रीके देखते ही उसके ध्यानमें तन्मय हो जाता है इससे
सांख्यका सत्कार्यवाद बिना युक्तिकेभी स्त्री सिद्ध कर देती है ॥ ८१ ॥

जो मनुष्य कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण करनेमें तत्पर रहते हैं वे अनेक भवों तक
युक्तायुक्तकेविचारसे शून्य हो जाते हैं यह बात वक्रोत्तिकेद्वारा कहते हैं ---

मैं ऐसा मानता हूँ कि मनुष्योंके हृदयमें चक्षुके द्वारा प्रतिफलित स्त्रियोंका कटाक्ष एक अलौकिक विषको उगलाता है जिसकी शक्ति विचारसे परे है । यदि ऐसा न होता तो उसी भवमें ही नहीं, किन्तु अन्य भवोंमें भी उसमें चेतनाका विकास क्यों नहीं होता और क्यों सद्गुरुओंके वचनरूपी मान्त्र अपना प्रभाव नहीं डालते ॥ ८२ ॥

अथ संयमसेबिना चित्तं येन तेन निरिक्षणवचनादिप्रकारेणान्तानिपत्य स्त्रिया विकार्यमाणं दुःशक -
-- प्रतिकारं भवतीति भीत्युत्पादनमुखेन सुतरां तत्परिहारे तान् जागरयति ---

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिनां मनः ।

यथा तथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात् ॥८३॥

एकगुणस्नेहं ---- उत्कष्टगुणानुरागमेकत्वरसिकं वा विरोधाभासपक्षे तुच्छं न जघन्यगुणानाम् ।
इत्याभिधानात् एकगुणस्नेहस्य केनापि सह संबन्धो न स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥८३॥

अथाल्पशोऽपि स्त्रीसम्पर्कं संयतस्य स्वार्थभ्रंशकरोतीति शिक्षार्थमाह ---

कणिकामपि कर्कटया गन्धमात्रमपि स्त्रियाः ।

स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्तिं व्यर्थीकरोत्यरम् ॥८४॥

अल्पमप्यालोकनस्पर्शनवचनादिकं पक्षे घ्राणग्राहयो गुणो गन्धः । पक्षद्वयेऽप्यसादेव वा । स्वादु शुद्धां -----
सानन्दवीतरांगां मधुरशुभ्रां च । व्यर्थीकरोति --- विगतो विरुद्धो वाऽर्थः प्रयोजनं कर्मक्षपणं
मणहकाद्युत्पादश्च यस्याः सा व्यर्था ॥ ८४ ॥

अथ स्त्रीसांगत्यदोषं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह ---

विशेषार्थ --- सच्चे मान्त्रिकोंके मन्त्रोंके प्रभावसे सर्प--विष उतर जाता है और मनुष्य होशमें आ जाता है. किन्तु स्त्रीके कटाक्षरूपी सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य भव-भवमें ज्ञानशून्य बना रहता है, उसपर सच्चे गुरुओंके उपदेशका भी कोई प्रभाव नहीं पडता ॥८३॥

संयमका पालन करनेवाले संयमियोंका मन भी अवलोकन---भाषण आदि किसी भी प्रकारसे भीतर घुसकर स्त्रियाँ ऐसा विकृत कर देती हैं कि उसका प्रतीकार बहुत ही कठिन हो जाता है । इस प्रकारका भय उत्पन्न करकेउनका बहुत ही उचीत परिहार करनेकेलिए सावधान करते हैं -----

संयमियोंका मन एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि स्त्री जिस---किसी तरह उसमें प्रवेश करकेक्षणभरमें ही अपने रूप कर लेती हैं ॥८३॥

विशेषार्थ --- संयमियोंके मनमें सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें उत्कृष्ट अनुराग होता है अथवा वे आत्माके एकत्वके रसिक होते हैं इसलिए उनके मनको एकगुणस्नेहकहा है । यह तो यथार्थ ही है इसमें कोई आश्चर्यकी आत नहीं है । किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके पाँचवें अध्यायमें कहा है -- न जघन्य गुणानाम् । जघन्य अर्थात् एक सिन्ध या रुक्ष गुणवाले परमाणुका बन्ध नहीं होता । और संयमीका मन एकगुणस्नेहवाला है फिर भी उसको स्त्री अपने रूप कर लेती है, यही आश्चर्य है । इसे साहित्यमें विरोधाभास नामक अलंकार कहते हैं ॥ ८३ ॥

आगे शिक्षा देते हैं कि थोडा-सा भी स्त्री-सम्पर्क संयमोंके विनाश कर देता है---

जैसे कर्कटीकी गन्धमात्र गेहूँके स्वादु और शुद्ध आटेको व्यर्थ कर देती है फिर उससे स्वादिष्ट भण्डे आदि नहीं बन सकते । उसी तरह स्त्रीकी गन्धमात्र भी--उसका देखना, स्पर्शन और वचन मात्र भी मुनिकी सानन्द वीतराग चित्तवृत्तिको तत्काल ही व्यर्थ कर देती है । फिर उससे कर्मोंका क्षणरूप कार्य नहीं होता ॥ ८४ ॥

स्त्रीसंगतिके दोषोंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं----

सत्त्वं रेतश्छलात् पुंसां घृतवद् द्रुतम् ।

विवेकः सूतवत्क्वापि याति योषाग्नियोगतः ॥ ८५ ॥

सत्त्वं---मनोगुणः । द्रवति---विलीयते ॥ ८५ ॥

अथ कामिनीचेष्टाविशेषो महामोहावेशं करोतीति वक्रभणित्या बोधयति---

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः

सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम् ।

तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्कणन्मेखला,

मञ्जीराकुलितोऽपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः ॥ ८६ ॥

वैदग्धी--रसिकचेष्टा । स्वादिमा--माधुर्यम् । लास्यं--मसृणनृत्यम् । स्मितद्युतिकिरः--
ईषध्दसितकान्तिप्रस्तारिण्यः ॥ ८६ ॥

अथ स्त्रीसंकथादोषं कथयति--

सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोऽप्यहो ।

उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात् ॥ ८७ ॥

योगः--समाधिः प्रयोगश्च । रसः--पारदः ॥ ८७ ॥

अथोत्तमस्त्रीपरिरम्भानुभावं भावयति---

पश्चाद् बहिर्वरारोहादोः पाशेन तनीयसा ।

बध्यतेऽन्तः पुमान् पूर्व मोहपाशेन भूयसा ॥ ८८ ॥

स्त्री अग्निकेतुल्य है । जैसे अग्निकेसम्पर्कसे तत्काल घी पिघलता है और पारा उड जाता है वैसे ही स्त्रीके सम्पर्कसे मनुष्योंका मनोगुण सत्त्व वीर्यके छलसे विलीन हो जाता है और युक्त-अयुक्तका विचारज्ञान न जाने कहाँ चला जाता है ॥८५॥

कामिनियोंकी विशेष चेष्टाएँ महामोहके आवेशको उत्पन्न करती हैं यह बात वक्त्रोक्तिकेद्वारा समझाते हैं-

रसिक चेष्टामय परिहास और कुटिनतासे आश्चर्यके आवेशमें माधुर्यको बहानेवाली, भ्रुकुटियोंके कोमल नर्तनके रससे युक्त और मन्द-मन्द मुसकराहटकी किरणोंको इधर-उधर बिखेरनीवीली, कामिनियोंकी वाणीसे तो दूर ही रहो, वे तो मोक्षमार्गकी अत्यन्त प्रतिबन्धिनी हैं ही, उसके कटि और स्तनके भारसे मन्द-मन्द गमन करनेसे बेरोक शब्द करनेवाली करधनी और पायलोंसे आकुल हुआ कौन मनुष्य तत्काल ही मोहरूपी अन्धकूपमें नहीं गिरता । अर्थात् मुमुक्षुको स्त्रीसे वार्तालाप तो दूर, उसके शब्द-श्रवणसे भी बचना चाहिए ॥८६॥

स्त्रियोंसे वार्तालाप करनेकेदोष बतलाते हैं--

आश्चर्य है कि जैसे अग्निसे भस्म हुआ भी पारा उसको जिलानेमें समर्थ औषधिके बलसे पुनःउज्जीवित हो जाता है वैसे ही समीचीन समाधिके द्वारा भस्म कर दिया गया भी साधुका राग स्त्रीके साथ बातचीत करनेसे पुनःउज्जीवित हो जाता है ॥८७॥

कामिनीके आलिंगनका प्रभाव बतलाते हैं--

पहले तो पुरुष अपनी आत्मामें बडे भारी मोहपाशसे बँधता है । मोहपाशसे बँधनेके पश्चात् बाहरमें सुन्दर स्त्रीके कोमल बाहुपाशसे बँधता है । अर्थात् अन्तरंगमें मोहका उदय

वरारोहा--वर उत्कृष्ट आरोहो नितम्बोऽस्या असौ, उत्तमस्त्रीत्यर्थः । भूयसा--बहुतरेण ॥८८॥

अथ स्त्रीदृष्टयादिदोषानुपसंगृह्णान्नाहइ

दृष्टिविषदृष्टि रिव दृक्कृत्यावत् संकथाग्निवत्संगः ।

स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम् ॥८९॥

दृष्टिविषः--सर्पविशेषः । कृत्यावत्--विद्याविशेषो यथा । सूत्रं--नानार्थसूत्रकत्वरत् । वक्तव्यं--सूत्रतिरिक्तं वचनम्, एकार्थपरत्वात् ॥८९॥

अथ स्त्रीप्रसंगदोषानुपसंहरन्नाह---

किंबहुना चित्रादिस्थापितरूपापि कथमपि नरस्य ।

हृदि शाकिनाव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशताति ॥९०॥

वैकृतशतानि । तानि च---

छ्वध्दो खध्दो पभणइ लुंचइ सीसं न याणए किंपि ।

गयचेयणो हु विलवइ उड्ढं जोएइ अह ण जोएइ ॥ []

होनेपर ही मनुष्य स्त्रीके प्रति आकृष्ट होकर उसकी कोमल बाहुओंके बन्धनमें बँधता है। शरीरके इस तुच्छ बन्धनसे आत्माका मोहबन्धन बलवान् है। उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥८८॥

आगे स्त्री दृष्टि आदिके दोषोंको बतलाते हैं----

हे साधु ! इस सूत्रवाक्यको स्मरण रखो कि स्त्रीकी दृष्टि दृष्टिविष सर्पकी दृष्टिकी तरह है। उनके साथ बातचीत कृत्या नामक मारण विद्याकी तरह है। उसका संग अग्निकी तरह है। तथा इस वक्तव्यको भी याद कि उनका नाम भी भूतकी तरह है ॥८९॥

विशेषार्थ--जिस वाक्यसे अनेक अर्थोंका सूचन होता है उसे सूत्र कहते हैं। ब्रम्हचारीके लिए भी कुछ सूत्र वचन सदा स्मरणीय हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए। जैसे दृष्टिविषजिसकी आँखमें विष होता है उसे दृष्टिविष कहते हैं। उसकी दृष्टिसे ही मनुष्यका बल क्षीण हो जाता है। स्त्रीकी दृष्टि भी ऐसी ही घातक है। जैसे मारणविद्या मनुष्योंके प्राणोंको हर लेती है उसी तरह स्त्रीके साथ संभाषण साधुके संयमरूपी प्राणको हर लेता है। तथा जैसे अग्निका संसर्ग जलाकर भस्म कर देता है वैसे ही स्त्रीका संग साधुके संयमरूपी रत्नाको जलाकर राख कर देता है। अतः स्त्रीकी दृष्टिसे, उसके साथ संभाषणसे उसके संसर्गसे दूर ही रहना चाहिए। इसके साथ ही इतना वक्तव्य और भी याद रखना चाहिए कि स्त्रीकी दृष्टि आदि ही नहीं, उनका नाम भी भूतकी तरह भयानक है ॥८९॥

आगे स्त्रीके संसर्गसे हानेवाले दोषोंका उपसंहार करते हैं---

अधिक कहनेसे क्या ? चित्र, काष्ठफलक आदिमें अंकित स्त्री भी किसी भी प्रकारसे शाकिनीकी तरह मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करके विकारोंको उत्पन्न करती है ॥९०॥

-न्याः कथितानि । स्त्रियास्तु प्राक्प्रबन्धेन---भ. कु. क. ।

अथैवं स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यायेदानीं पञ्चभिर्वृत्तैस्तदशुचित्वं प्रपञ्चयिष्यन्
सामान्यतस्तावत्केशपाशवक्त्राकृतीनामाहार्यरामणीयकसद्योविपर्याससंपादकत्वं मुमुक्षुणां निर्वेदनिदानत्वेन
मुक्त्युद्योगानुगुणं स्यादित्यासूत्रयति---

गोगर्मुद्वयजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं

पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम् ।

मूतिश्चाजिनकृद्दृतिप्रतिकृतिं संस्काररम्या क्षणाद् ,

व्यांजिष्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तहर्षुदस्थास्यात् ॥९१॥

गवित्यादि--गवामनड्वाहीनां गर्भुतो मक्षिकास्तासां व्यजनं विक्षेपणं तालवृन्तम् । तस्यैकवंशिकं
सगोत्रं जुगुप्सास्पदत्वात् । स्वमात्मानं यदि न व्यांजिष्यदिति गत्वा संबन्धः कर्तव्यः । एकः समानो
वंशोऽन्वयोऽस्यास्तीति विगृह्य घृण्णोपूर्तावज्जिमिति ठजूड । उपस्कारोज्ज्वलं--उपस्कारेण
अभ्यङ्गस्नानधूपनादिप्रतियत्नेन । उज्ज्वलं--दीप्तम् । कैशिकविशेषणमिदम् । कैशिकं-केशसमूहः ।
पादकृद्गृहगन्धिं--पादकृतश्चर्मकारस्य गृहस्येव गन्धोऽस्योति । पूर्ववत् घस्वम्ड इत्यस्य विशेषणम् ।
अजिनेत्यादि-अजिनकृतश्चर्मकारस्य दृतिः रज्यमाना खल्वा तप्प्रतिमम् । इदमपि स्वमित्यस्यैव विशेषणम् ।
व्यांजिष्यत्--प्रकटमकरिष्यत् । स्वं--आत्मानम् । उद्यस्थास्यत--उद्यममकरिष्यत ॥९१॥

अथ कामान्धस्य स्वोत्कर्षसंभावनं धिक्कुर्वन्नाह---

कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन्-

सुधास्यन्दीत्यग्द्वरणमुखमुखक्लेदकलुषम् ।

इस प्रकार स्त्रीसंगके दोषोंको कहकर अब पाँच पद्योंसे उनकी अशुचिताको कहना चाहते हैं ।
पहले सामान्यसे स्त्रियोंके केशपाश, मुख और शरीरको ऊपरी उपायोंसे सुन्दर किन्तु शीघ्र ही बदसूरत
बतलाते हैं जिससे मुमुक्षु उनसे विरक्त होकर मुक्तिके उद्योगमें लगें।

स्त्रियों और पुरुषोंका केशसमूह गाय और बैलोंकी मक्खियाँ भगानेवाली पूँछके बालोंके ही वंशक
है, दोनोंका एक ही कुल है । किन्तु तेल, साबान-स्नान आदिसे उन्हें चमकाकर स्त्री पुरुषोंके सामने और
पुरुष स्त्रियोंके सामने उपस्थित होते हैं । मुख चर्मकारके घरकी तरह दुर्गन्धयुक्त है । किन्तु उसे बार-बार
ताम्बूलकी सुवाससे वासित करके स्त्री और पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं । शरीर
चर्मकारकी रँगी हुई मशकले समान है । किन्तु उसे भी स्नान, सुगन्ध आदिसे सुन्दर बनाकर स्त्री और
पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं । किन्तु यह बनावट क्षण-भरमें ही विलीन हो जाती
है और केशपाश, मुख और शरीर अपनी स्वाभाविक दशामें प्रकट हो जाते हैं । यदि ऐसा न होता तो
मोक्षके विषय में कौन उद्यम करता अर्थात् मोक्षमार्गमें कोई भी न लगता ॥९१॥

कामान्ध पुरुषकेअपनेको महान् समझनेका तिरस्कार करते हैं---

घस्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ ।

मुखं श्लोष्मागारं तदपि च शशाक्डेन तुलितम् ॥

स्त्रवन्मूत्रक्लिनं करिवरशिरःस्पर्धिं जघनं

मुहुर्निन्द्यं रुपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥ --- वैराग्यश.१६ श्लो. ।

पिबन्नोश्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं,

भगं धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि ॥९२॥

अमिसरन्--आलिङ्गित्यादि --अङ्गं व्रणमिवाशुचिरुपत्वात् तस्य मुखं द्वारं यन्मुखं वस्त्रं तस्य क्लेदेन
क्वाथेन कलुषं कश्मलम् । गच्छन्--उपभुञ्जानः । आर्तवपथं--रजोवाहियोनिरन्धम् । स्वामनु--आत्मनः
सकाशाध्दीनम् ॥१२॥

अथ स्त्रीशरीरेऽनुरज्यन्त्यां दृष्टौ सद्यस्तत्स्वरूपपरिज्ञानोन्मेष एव मोहोच्छेदाय स्यादित्यावेदयति-

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्त्रोतःप्रणालीगल-

द्गर्होद्गारमलोपकक्षितनिजान्तर्भागभाग्योदये ।

तन्वग्डीवपषीन्द्रजालवदलं भ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि,

द्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम् ॥१३॥

बृहन्ति--नासागुदादिरन्धाणि, अणूनि--रेमकूपविवरणि । गर्होद्गारः--जुगुप्सोभ्दावाकाः । मलाः--
श्लेष्मविण्मूत्रप्रस्वेदादयः । भाग्योदयः--विपरीतलक्षणया पुण्यविपाकः । अलंभ्रान्तौ--भ्रान्तये विभ्रमायालं
समर्थम् । घतिकुप्रादयःऽ इति समासः ॥१३॥

अथ स्त्रीशरीरस्याहारवस्त्रानुलेपनादिप्रयोगेणैव चारुत्वं स्यादिति प्रौढोक्त्यां व्यञ्जयति-

वर्चःपाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं,

बीभत्सैकविभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः ।

वेधा वेह्यि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत्

को वा क्लोशमवैति शर्मणि रतः संप्रत्ययप्रत्यये ॥१४॥

कामसे अन्धा हुआ मनुष्य मांसकी ग्रन्थिरूप स्त्रीके स्तनोंके सोनेके कलश मानकर उनका आलिंगन
करता है । जो मुख शरीरके घातके बहनेका द्वार जैसा है उसके कफ आदिसे दूषित हुए स्त्रीके ओष्ठको
अमृतका प्रवाही मानकर पीता है, रजको बहानेवाले स्त्रीके योनि छिद्रमें रमण मानकर सम्भोग करता है ।
और ऐसा करते समय इन्द्रको भी अपनेसे हीन मानता है । उसकी यह कल्पना धिक्कारके योग्य हैं ॥१२॥

जिस समय दृष्टि स्त्रीके शरीरमें अनुरक्त हो, तत्काल ही उसके स्वरूपके परिज्ञानकी झलक ही
मोहको दूर कर सकनेमें समर्थ है ऐसा कहते हैं--

स्त्रीका शरीर रज और वीर्यसे उत्पन्न होता है । उसमें नाक, गुदा आदि बड़े छिद्र हैं और
रोमावलीके छोटे छिद्र हैं । ये वे नालियाँ हैं जिनसे ग्लानि उत्पन्न करनेवाले शब्दके साथ मल-मूत्रादि बहते
रहते हैं। उनसे उनके शरीरके अन्तर्भागमें कितना पुण्यका उदय है यह अनुभवमें आ जाता है । फिर भी
इन्द्रजाल (जादूगरी) की तरह वह शरीर मनुष्योंको भ्रममें डालनेमें समर्थ है अर्थात् ऐसे शरीरके होते हुए
भी मनुष्य उसके मोहमें पड जाते हैं । अतः उसमें दृष्टि आसक्त होते ही यदि तत्काल तत्त्वदृष्टि खुल
जाती है तो समझना चाहिए कि मोहकी गर्दनपर पैर रख दिया गया अर्थात् साधुने मोहका तिरस्कार कर
दिया ॥१३॥

स्त्रीका शरीर सुस्वादु पौष्टिक आहार और वस्त्र आदिके व्यवहारसे ही सुन्दर प्रतीत होता है यह बात प्रौढ पुरुषोंकी उक्तिसे प्रकट करते हैं-

नारीका शरीर मलको पकानेके लिए एक पात्र है, घृणा पैदा करनेवाले मलमूत्र आदिका घर है, पसीनेका फुवारा है। मुझे ऐसा लगता है कि एक मात्र बीभत्स रसके आलम्बन-

चरुः - स्थाली । जुगुप्स्यानि - सूकाजनकानि मूत्रार्तवादीनि । वीभत्सः - जुगुप्साप्रभवो हृत्संकोच - कृद्रसः । विभावाः - कारणानि । भावाः - पदार्था दोषधातुमलादयः । सरीसृजीति - पुनः पुनः सृजति । सारः फलं यस्य तेनैकेन वा सारं ग्राह्यम् । जगत् - भोगोपभोगाङ्गप्रपञ्चम् । चराचरसयापि जगतो रामाशरीररम्यतासंपादनद्वारेणैव कामिनामन्तः परमनिर्वृतिनिमित्तत्वात्तदुपभोगस्यैव लोके परमपुरुषार्थतया प्रसिद्धत्वात् । तदाह भद्ररुद्रटः -

राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराडनानडसर्वस्वम् ॥ [काव्यालंकार ॥ ७ । ९७]

संप्रत्ययप्रत्यये - परमावद्ययोषिदुपस्थलालसस्य पृथग्जनस्य
विषयव्यामुग्धबुद्धेर्दुस्सहनकदुःखोपभोगयोग्यताकरणो - द्योगमनुशोचति -
विष्यन्दिक्लेदविश्राम्भसि युवतिवपुःश्वभ्रभूभागभाजि,
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम् ।

राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराडनानडसर्वस्वम् ॥ [काव्यालंकार ॥ ७ । ९७]

संप्रत्ययप्रत्यये - परमावद्ययोषिदुपस्थलालसस्य पृथग्जनस्य
विषयव्यामुग्धबुद्धेर्दुस्सहनकदुःखोपभोगयोग्यताकरणो - द्योगमनुशोचति -
विष्यन्दिक्लेदविश्राम्भसि युवतिवपुःश्वभ्रभूभागभाजि,
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम् ।
आद्युनो योनिनद्यां प्रकुपितकरणप्रेतवर्गोपसर्गे -
मूर्छालः स्वस्य बालः कथमनुगुणयेध्दै तरं वैतरण्याम् ॥ ९५ ॥

उद्दीपन रू पसे जनक दोष धातु मल आदि पदार्थोंके समूहसे उस नारीके शरीरका निर्माण करके ब्रह्मा जगत्का निर्माण करता है क्योंकि नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करना ही इस जगत्का एक मात्र सार

है । अर्थात् नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करनेके द्वारा ही यह चराचर जगत् कामी जनोंके मनमें परमनिवृत्ति उत्पन्न करता है, लोकमें नारीके शरीरके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ माना जाता है अथवा जिसमें जो गुण नहीं है उसमें वह गुण मान लेनेसे होनेवाले सुखमें आसक्त कौन मनुष्य दुःखका अनुभव करता है ? कोई भी नहीं करता ॥ ९४ ॥

स्त्रीशरीरके निन्दनीय भागमें आसक्त और विषयोंमें ही संलग्न मूढ पुरुष नरकके दुःसह दुःखोंको भोगनेकी योग्यता सम्पादन करनेमें जो उद्योग करता है उसपर खेद प्रकट करते हैं -

योनि एक नदीके तुल्य है उससे तरल द्रव्यरूप दुर्गन्धित जल सदा झरता रहता है, युवतीके शरीररूपी नरकभूमिके नियत तरल भागमें वह स्थित है, दुःखरूपी अग्निसे पीडित जन्तुओंका समूह उसमें बसता है और रुधिरके बहावसे वह अत्यन्त ग्लानिपूर्ण है । उस योनिरूपी नदीमें आसक्त और क्रुद्ध इन्द्रियरूपी नारकियोंके उपसर्गोंसे मूर्च्छित हुआ मूढ अपनेको कैसे वैतरणी नदीमें तिरनेके योग्य बना सकेगा ? ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ - कामान्ध मनुष्य सदा स्त्रीकी योनिरूपी नदीमें डूबा रहता है । मरनेपर वह अवश्य ही नरक जायेगा । वहाँ भी वैतरणी नदी है । यहाँ उसे इन्द्रियाँ सताती हैं तो मूर्च्छित होकर योनिरूपी नदीमें डूबकी लगाता है । नरकमें नारकी सतायेंगे तो वैतरणीमें डूबना होगा । मगर उसने तो नदीमें डूबना ही सीखा है तैरना नहीं सीखा । तब वह कैसे वैतरणी पार कर सकेगा ? उसे तो उसीमें डूबे रहना होगा ॥ ९५ ॥

विश्रं - आपगन्धि । आद्यूनः - लम्पटः । प्रेताः - नारकाः । मूर्च्छालः - मूर्च्छितः । अनुगुणयेत् - अनुकूलयेत् । तरं - प्रतरणम् । वैतरण्यां नरकनद्याम् ॥ ९५ ॥

अथ पञ्चभिः पदैर्वृद्धसांगत्यविधातुमनाः कुशलसातत्यकामस्य मुमुक्षोर्मोक्षमार्गनिर्वहणचणानां परिचरण- मत्यनतकरणीयतया प्रागुपक्षिपति -

स्वानूकाडशिताशयाः सुगुरुवाग्वृत्त्यस्तचेतःशयाः,

संसारार्तिबृहद्भयाः परहिव्यापारनित्योच्छयाः ।

प्रत्यासन्नमहोदयाः समरसीभावानुभावोदयाः,

सेव्याः शश्वदिह त्वयादृतनयाः श्रेयः प्रबन्धेप्सया ॥ ९६ ॥

अनूकः - कुलम् । तच्चेह पितृगुरुसंबन्धि कुलीनो हि दुरपवादभयादकृत्यान्नितरां जुगुप्सते ।
चेतः - शयः - कामः । यदाह -

यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ।

उच्छ्रयः - उत्सवः । महोदयः- मोक्षः । समरसीभावः - शुद्धचिदानन्दानुभवः । तदनुभावाः - सद्योरागादिप्रक्षयजातिकारणवैरोपशमनोपसर्गनिवारणादयस्तेषामुदय उत्कर्षो येषाम् । । अथवा समरसीभाव- स्यानुभावः कार्यमुदयो बुद्धितपोविक्रियौषधिप्रभृतिलब्धिलक्षणोऽभ्युदयो येषाम् ॥ ९६ ॥

अथ वृद्धेतरसांगत्ययोः फलविशेषमभिलषति -

कालुष्यं पुंस्युदीर्णं जल इव कतकैः संगमाद्वयेति वृद्धै-

रश्मक्षेपादिवाप्तप्रशममपि लघुदेति तत्षिडसडात् ।

वार्भिर्गन्धो मृदीवोभदवति च युवभिस्तत्र लीनोऽपि योगाद्,

रागो द्राग्वृद्धसडात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम् ॥ ९७॥

आगे पाँच श्लोकोंसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिका विधान करना चाहते हैं । सर्वप्रथम निरन्तर कुशलताके इच्छुक मुमुक्षुको मोक्षमार्गका निर्वहण करनेमें कुशल गुरुओंकी सेवा अवश्य करनेका निर्देश करते हैं -

हे साधु ! इस ब्रह्मचर्यव्रतमें चारित्र अथवा कल्याणमें रुकावट न आनेकी इच्छासे तुझे ऐसे नीतिशाली वृद्धचार्योंकी सेवा करनी चाहिए जिनका पितृकुल और गुरुकुल उनके चित्तको कुमार्गमें जानेसे रोकता है (क्योंकि कुलीन पुरुष खोटे अपवादके भयसे खोटे कार्योंसे अत्यन्त ग्लानि करता है), सच्चे गुरुओंके वचनोंके अनुसार चलनेसे जिनका कामविकार नष्ट हो गया है, जो संसारके दुःखोंसे अत्यन्त भीत रहते हैं, सदा परहितके व्यापारमें आनन्द मानते हैं, जिनका मोक्ष निकट है, तथा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवके प्रभावसे जिनके तत्काल रागादिका प्रक्षय, जन्मसे होनेवाले वैरका उपशमन, उपसर्गनिवारण आदिका उत्कर्ष पाया जाता है अथवा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवका कार्य बुद्धि, विक्रिया, तप, औषधि आदि ऋद्धिरूप अभ्युदय पाया जाता है, ऐसे आचार्योंकी संगति अवश्य करनी चाहिए ॥ ९६ ॥

वृद्धजनोंकी और युवाजनोंकी संगतिके फलमें अन्तर बतलाते हैं -

जैसे जलमें कीचडके योगसे उत्पन्न हुई कालिमा निर्मलीके चूर्णके योगसे शान्त हो जाती है वैसे ही अपने निमित्तोंके सम्बन्धसे जीवमें उत्पन्न हुई कालिमा अर्थात् द्वेष, शोक,

कालुष्यं - द्वेषशोकभयादिसंक्लेशः पडाविलत्वं च । सरटवत् - करकेटुको यथा । एति शान्तिं - शाम्यति । राग उदीर्णोऽपि इत्युपसृत्य योज्यम् ॥ ९७ ॥

तरुणस्याश्रयणमविश्वास्यतया प्रकाशन्नह -

अप्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वच्छः कुलीनोऽपि ना,
नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः ।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः,
पुण्यात्माः प्रतिलोमयन् विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः ॥ ९८ ॥

रुकः दीप्तिः । संक्षोभ्यमाणः - प्रकृतेश्चाल्यमानः । यल्लोकः -

जलाभोगः- मूढलोकोपभोगो वारिविस्तारश्च । पुण्यात्माः- पवित्रस्वभावाः ।
अनश्चवादिति डात् । प्रतिलोमयन् - प्रावर्तयन् प्रावारिणीः कुर्वन्नित्यर्थः । विधुरयति - श्रेयसो भ्रंशयति
आत्माश्रयान् शिष्यादीन्मत्स्यादीश्च ॥ ९८ ॥

भय आदि रूप संक्लेश ज्ञान और संयमसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे शान्त हो जाता है । तथा जैसे जलमें निर्मलीके चूर्णसे शान्त हुई कीचडकी कालिमा पत्थर फेंकनेसे तत्काल उद्भूत हो जाती है वैसे ही जीवमें वृद्धजनोंकी संगतिसे शान्त हुआ भी संक्लेश दुराचारी पुरुषोंकी संगतिसे पुनः उत्पन्न हो जाता है । जैसे मिट्टीमें छिपी हुई गन्ध जलका योग पाकर प्रकट होती है उसी तरह युवाजनोंकी संगतिसे जीवका अप्रकट भी राग प्रकट हो जाता है । तथा जैसे पत्थरके फेंकनेसे गिरगिटका राग - बदलता हुआ रंग शान्त हो जाता है वैसे ही वृद्धोंही संगतिसे उद्भूत हुआ राग शान्त हो जाता है । अतः ब्रह्मचर्य व्रतके पालकोंको दुराचारी जनोंकी संगति छोडकर ज्ञानवृद्ध और संयमवृद्धोंकी संगति करनी चाहिए ॥ ९७ ॥

यह बात प्रसिद्ध है कि प्रायः यौवन अवस्थामें विकार अवश्य होता है । अतः अतिशय गुणशाली तरुणकी संगति भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, यह बात कहते हैं -

जैसे रत्नोंकी राशिकी चमकसे प्रदीप्त स्वच्छ और प्रशान्त भी समुद्र चन्द्रमाके द्वारा धीरे- धीरे क्षुब्ध होकर अपने गर्जनयुक्त जलके विस्तारसे दिशा मण्डलको चंचल कर देता है, पवित्र गंगा आदि नदियोंको उन्मार्गगामिनी बना देता है और समुद्रमें बसनेवाले मगर- मच्छोंको भी प्रायः कष्ट देता है उसी प्रकार प्रतिक्षण बढ़ते हुए गुणोंके समूहसे प्रदीप्त स्वच्छ कुलीन भी मनुष्य यौवन अवस्थामें धीरे- धीरे चंचल होता हुआ आशापाशमें फँसे हुए और डींग मारनेवाले मूढ लोगोंके इष्ट विषयोपभोगका साधन बनकर अर्थात् कुसंगमें पडकर अपनी मन- वचन- कायकी पुण्य प्रवृत्तियोंको कुमार्गमें ले जाता है और अपने आश्रितोंको भी कल्याणसे भ्रष्ट कर देता है ॥ ९८ ॥

व्यावर्तयन् उत्पथे चारिणीः कुर्वन्नित्यर्थः - भ. कु. च।

अथ तारुण्येऽप्यविकारिणं प्रशंसयति ---

दुर्गेऽपि यौवनवने विहरन् विवेकचिन्तामणि स्फुटमहत्तमवाप्य धन्यः।
चिन्तानुरूपगुणसंदुरुन्नभावो वृद्धो भवत्यपलितोऽपि जगद्धिनीत्या ॥९९॥

जगद्धिनीत्या ---- लोकांना शिक्षासंपादनेन ॥९९॥

अथासाधुसाधुकथाफलं लक्ष्यद्वारेण स्फुटयति---

सुशीलोऽपि कुशीलः स्याद्दुर्गोष्ठ्या चारुदत्तवत् ।
कुशीलोऽपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् ॥१००॥

स्पष्टम् ॥१००॥

जो युवावस्थामें भी निर्विकार रहते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं ---

यौवनरूपी दुर्गम वनमें विहार करते हुए अर्थात् सुवावस्थामें महिमाको प्रकट करनेवाले विवेकरूपी चिन्तामणिको प्राप्त करके चिन्ताके अनुरूप गुणसम्पदासे महान् प्रभावशाली धन्य पुरुष लोंगोको शिक्षा प्रदान करनेके कारण केशोंके श्वेत न होनेपर भी वृद्ध जैसा होता है अर्थात् जो युवावस्थामें संयम धारण करके लोंगोंको सत् शिक्षा देता है वह वृद्धावस्थाके बिना भी वृद्ध है ॥९९॥

असाधु और साधु पुरुषोंके साथ संभाषणादि करनेका फल दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं ----

दुष्टजनोंकी संगितसे चारुदत्त सेठकी तरह सुशील भी दुराचारी हो जाते हैं। और सज्जनोंकी संगितसे मारिदत्त राजाकी तरह दुराचारी भी सदाचारी हो जाता है ॥१००॥

विशेषार्थ --- जैन कथानकोमें चारुदत्त और यशोधरकी कथाएँ अतिप्रसिद्ध हैं । चारुदत्त प्रारम्भमें बड़ा धर्मात्मा था । अपनी पत्नीके पास भी न जाता था । फलतः उसे विषयासक्त बनानेके लिए वेश्याकी संगितमें रखा गया तो वह इतना विषयासक्त हो गया कि बारह वर्षोंमें सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लुटा बैठा । जग पासमें कुछ भी न रहा तो वेश्याकी अभिभाविकाने एक दिन रात्रिमें उसे सोता हुआ ही उठवाकर नगरके चौराहे पर फिक्का दिया । इस तरह कुसंगमें पडकर धर्मात्मा चारुदत्त कदाचारी

बन गया । इसी तरह मारिदत्त राजा अपनी कुलदेवी चण्डमारीको बलि दिया करता था । एक बार उसने सब सब प्रकारके जीव- जन्तुओके युगलकी बलि देवीको देनेका विचार किया । उसके सेवक एक मनुष्य युगलकी खोजमें थे। एक तरुण सुरूप क्षुल्लक और क्षुल्लिका भोजनकेलिए नगरमें आये । राजाके आदमी उन दोनोंको पकडकर ले गये । राजाने उन्हें देखकर पूछा--- तुम दोनों कौन हो और इस कुमारवयमें दीक्षा लेनेका कारण क्या है ? तब उन्होंने अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त सुनाया कि किस तरह एक ओटके बने मुर्गेका बलिदान करनेसे उन्हें कितना कष्ट भोगना पडा । उसे सुनकर राजा मारिदत्तने जीवबलिका विचार छोड दिया और जिनदीक्षा धारण कर ली । यह सत्संगतिका फल है ॥ १००॥

अथैवं

स्त्रीवैराग्यपञ्चकोचितं

ब्रह्मचर्यव्रतं

इ

त्रिीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्तरणम् ---

वृष्येष्टरस--- स्वशरीरसंस्कारपरिहारस्वभावभावनापञ्चकेन स्थैर्यमापदयेदित्युपदेष्टुमिदमाचष्टे ---

रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोऽसि चेद् भ्रष्टदृक्

तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चेत्तत्पूर्वभुक्तावसि ।

निःसंज्ञो यदि वृष्यवाञ्छितरस्वादेऽरसज्ञोऽसि चेत् ,

संस्कारे स्वतनोः कुजोऽसि यदि तत् सिद्धोऽसि तुर्यव्रते ॥१०१॥

रामारागकथाश्रुतौ--- रामायां स्त्रियां रागो रतिः, तदर्थं रामयो वा रागेण क्रियमाणा कथा तदाकर्णने ।

ज्ञुतिपरिभ्रष्टः--- अत्यन्तवधिरः संस्कारपराङ्मुखोऽसित्यर्थः ॥१०१॥

अथ वृष्यद्रव्यसौहित्यप्रभावं भावयति---

को न वाजीकृतां दृप्तः कन्तु कन्दलयेद्यतः।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥१०२॥

१२ वाजीकृतां --- अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति वाजीकृतो रतौ वृद्धिकराः क्षीराद्यर्थास्तषाम् । कन्दलयेत्--- उभ्दावयेत् । जीह्वेन्द्रिसंतर्पणाप्रभवत्वात् कन्दर्पदर्पस्य । अत्र पूर्वरतानुमस्मरण --- वृष्येष्टरसादिवर्जनस्य पुनरुपदेशो ब्रह्मचर्यपालने अत्यन्तयत्नः कर्तव्य इति बोधयति। मुहुः साध्यत्वात्तस्य । तथा च ब्रवन्ति ---

आगे कहते है कि स्त्रीरागकथाश्रवण, उसके मनोहर अंगोका निरीखण, पूर्व भुक्त भोगोंका स्तरण, कामोद्दीपक भोजन और शरीर संस्कार इन पाँचोंके त्यागरूप पाँच भावनाओंसे ब्रह्मचर्य व्रतको स्थिर करना चाहिए ---

हे साधु! यदि तू स्त्रीमें राग उत्पन्न करनेवाली अथवा स्त्रीसे रागसे की जानेवाली कथाको सुननेमें बहरा है, यदि तू उसके मुख, स्तन आदि मनोहर अंगोको देखनेमें अन्धा है, यदि तू पहले भोगी हुई स्त्रीका स्मरण करनेमें असैनी है, यदि तू वीर्यवर्धक इच्छित रसोंके आस्वादमें जिह्वाहीन है, यदि तू अपने शरीरके संस्कार करनेमें वृक्ष है (वृक्ष अपना संस्कार नहीं करते) तो तू ब्रह्मचर्य व्रतमें सिद्ध है --- सच्चा ब्रह्मचारी है ॥१०१॥

विशेषार्थ --- आँख, कान और जिह्वा मथा मनपर नियन्त्रण किये बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता । इसलिए ब्रह्मचारीके स्त्रियोंके विषयमें अन्धा, बहरा, गूँगा तथा असंज्ञी तक बनना चाहिए। इसीलिए जैन मनि स्नान, विलेपन, तेलमर्दन, दन्तमंजन आदि शरीर संस्कार नहीं करते। रसना इन्द्रियको भी स्पर्शन कामेन्द्रिय कहा है । इसका जीतना स्पर्शनसे भी कठिन है । अक्लक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि जो स्पर्शजन्य सुखका त्याग कर देते हैं वे भी रसनाको वशमें नहीं रख सकते । आगममें भी कहा है --- इन्द्रियोंमें रसना, कर्मांमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य और गुप्तियोंमें मनोगुप्ति ये चार बड़े कष्टसे वशमें आते हैं ॥१०१॥

वीर्यवर्धक रसोंके सेवनका प्रभाव बतलाते हैं ---

मनुष्योंको घोंडेके समान बना देनेवाले वीर्यवर्धक दूध आदि पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं । वाजीकरणके सेवनसे मत हुआ कौन पुरुष कामविकारको नहीं करता अर्थात् सभी करते हैं । क्योंकि ऋषियोंने पुरुषको ऊर्ध्वमूल और अधःशाख कहा है ॥१०२॥

तदर्थं रामया रागेण वा--- भ.कु.चा ।

ध्रुवखाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाणं वंभं च ।

गुत्तीणं मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति" [] ॥१०२॥

अथ पूर्वेऽपि भूयांसो मुक्तिपथप्रस्थायिनो ब्रह्मव्रतप्रमादभाजो लोके भूयांसमुपहासमुपगता इति दर्शयंस्तत्र सुतरा साधूनवधानपरान् विधातुमाह ---

दुर्धर्षोद्धतमोहशौलिककतिरस्कारेण सपन्नाकराद्,

भृत्वा सद्गुणपण्यजातमयनं मुक्तेः पुरः प्रस्थिरताः।

लोलाक्षीप्रतिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य तां तां हठा ---

नीताः किन्न विडम्बनां यतिवराः चारित्रपूर्वाः : क्षिर्ता ॥१०३॥

शौलिकः--- शुवति शुलति वा सुखेन यात्यनेनेति शुल्कः प्रावेशपनैः प्रम्यद्रव्येभ्यो राजग्राह्यो भागः। शुल्के नियुक्तः शौलिकः । तेन साधर्म्यं मोहस्य पापवद्यभूयिष्टवात् । तस्य तिरस्कारः छलनोक्रमः।

आक्षिप्यं --- सोल्लुण्ठं हठाद् व्यावर्त्य । चारित्रपूर्वाः--- पूर्वशब्देन शकट--- कुर्चकर - रुद्रादयो गृह्यते
॥१०३॥

विशेषार्थ ---- भगद्गीता (अ.१५/१) में कहा है --- छुर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्
डइसके द्वारा संसारको वृक्षक रूपक दिया है। उसीको लेकर यहाँ ग्रन्थकारने पुरुषके ऊपर घटित किया
है । पुरुष मूल ऊपर है अर्थात् जिह्वा आदि उनका मूल है और हाथ- पैर आदि अवयव अधोगत शाखा हैं ।
इसका आशय यह है कि जह्वाके द्वारा पुरुष जिस प्रकार का भोजन करता है उसी प्रकारके उसके
शरीरके अवयव बनते हैं । अतः जिह्वा द्वारा वाजीकरण पदार्थोंका सेवन करनेसे शरीरके अवयव भी
तदनुरूप होंगे । अतः उन्हें संयत करनेकेलिए जिह्वा इन्द्रियको संयत करना चाहिए । उसकेबिना ब्रम्हचर्य
पालन कठिन है ॥१०२॥

पूर्वकालमें बहुत- से मोक्षमार्गी पुरुष ब्रम्हचर्य व्रतमें प्रमाद करकेलोकमें अत्यधिक उपहासकेपात्र
बने, यह दिखलाते हुए साधुओंको उसमें सावधान करते हैं ---

पूर्वकालमें चारित्र, शकट, कूर्चवार रुद्र आदि अनेक प्रमुख यित,दुर्धष्ट और उद्धत चारित्र
मोहनीय कर्मरूपी कर वसूल करनेवालेको छलकर घररूपी खानसे सम्यग्दर्शन आदि गुणरूप बहुत - सी
विक्रय वस्तुओंको लेकर मुक्तिके मार्गकी ओर चले थे । किन्तु कर वसूल करनेवाले चारित्र मोहनीय
कर्मकेस्त्रीरूपी गर्विष्ठ भटोंकेद्वारार बलपूर्वक पकड लिये गये । फिर उनकी जगत् में शास्त्र और लोकमें
प्रसिद्ध क्या- क्या विडम्बना नहीं हुई, उन्हें बहुत ही दुर्दशा भोगनी पडी ॥१०३॥

विशेषार्थ --- राज्योंमें किसी खान वगैरहसे निकलनेवाली विक्रय वस्तुओंपर कर वसूल करनेके
लिए मनुष्य नियुक्त होते हैं । यदि कोई मनुष्य उन्हें छलकर और खानसे रत्न आदि लेकर मार्गमें
जानेका प्रयत्न करता है तो कर वसूल करनेवालोंके उन्मत्त सिपाहियोंके द्वारा पकडे जानेपर बलपूर्वक
पीछे ढकेल दिया जाता है और फिर उसकी दुर्दशाका पार नहीं रहता । वही स्थिती पूर्वकालमें कुछ
यतियोंकी हुई । वे भी मोक्षमार्गमें चले थे किन्तु उनकेअन्तस्तलमें बैठा हुआ चारित्र मोहनीय कर्म बडा
उद्धत था, उसे धोखा देना शक्य नहीं था । किन्तु उन यतियोंने उसकी परवाह नहीं की और घर त्याग
कर बन गये संन्यासी और चल पडे मुक्तिकी ओर । उन्हें शायद पता नहीं था कि चारित्रमोहनीय
महाराजके बडे वर्वीले भट सुन्दर रूप धारण करके ऐसे लोगोंको पकडनेके लिए सावधान हैं । बस पकड
लिये गये, कामिनिके मोहपाशमें फँस गये । फिर तो उनकी जगत् में खूब हँसी

अथाकिञ्चन्यव्रतमष्टचत्वारिंशता पद्यैर्व्यावर्णयितुमनास्तत्र शिवार्थिनः प्रोत्साहयितु लोकोत्तरं
तन्माहात्म्यमादावादिशति ---

मूर्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनं,
तां दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यहं खल्विति ।

आकिञ्चन्य- सुसिद्धमन्त्रसतताभ्यासेन धुन्वन्ति ये

ते शश्वतत्प्रतपन्ति विश्वपतश्चित्रं हि वृत्तं सताम् ॥१०४॥

मोहवशात् ---- चारित्रमोहवशात् चारित्रमोहनीयकर्मविपाकपारतन्त्र्यात् । उक्तं च---

घ्या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोऽयमिति ।

मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥ [पुरुषार्थ. १११]

तो हुई ही दुर्दशा भी कम नहीं हुई । महाभारत आदिमें उनकी कथा वर्णित है । अतः मुक्तिमार्गके पथिकोंको चारित्र मोहनीय महाराजसे बहुत सावधान रहना चाहिए । उनका देना - पावना चुकता करके मोक्षके मार्गमें पग रखना चाहिए अन्यथा उनके सिपाही आपको पकड़े बिना नहीं रहेंगे ॥१०३॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन समाप्त हुआ ।

आगे अडतालनीस पद्योंसे आकिञ्चन्यव्रतको कहना चाहते हैं । सर्वप्रथम मुमुक्षुको प्रोत्साहित करनेकेलिए उस व्रतका अलौकिक माहात्म्य बतलाते हैं ---

मोहनीय कर्मके उदयसे घ्यह मेरा हड मैं इसका हूँ इस प्रकारका जो अभिप्राय होता है उसे मूर्छा कहते हैं । श्लोकमें आया घ्रवंड शब्द प्रकारवाची है । अतः घ्मै याज्ञिक हूँड, घ्मै संन्यासी हूँड, घ्मै राजा हूँ घ्मै पुरुष हूँ, ड घ्मै स्त्री हूँ, ड इत्यादी मिथ्यात्वमूलक अभिप्रायोंका ग्रहण होता है । इस प्रकारके सभी अभिप्राय मूर्छा हैं । कोई भी बाह्य या आभ्यन्तर काम- क्रोधादि वस्तु मेरी नहीं और न मैं भी किसी बाह्य या आभ्यन्तर वस्तुका हूँ । छखलुड शब्दसे कोई अन्य मौ नहीं हूँ और न मैं कोई अन्य हूँ इस प्रकारके आकिञ्चन्यव्रतरूप सुसिद्ध मन्त्रके निरन्तर अभ्याससे जो ब्रह्मराक्षस आदि दुष्ट ग्रहके समान उस मूर्छाका निग्रह करते हैं वे तीनों लोकोंके स्वामी होकर सदा प्रतापशाली रहते हैं । यहाँ यह शंका हो सकती है कि अकिञ्चन जगत् का स्वामी कैसे हो सकता है । अतः कहते हैं कि सन्त पुरुषोंका चरित अलौकिक होता है ॥१०४॥

विशेषार्थ --- मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रकारके भावको आकिञ्चन्य कहते हैं, उसका अर्थ होता है निर्ममत्व । अतः ममत्वका या मूर्छाका त्याग आकिञ्चन्यव्रत है । इसका दूसरा नाम परिग्रहत्यागव्रत है वास्तवमें

मूर्छाका नाम ही परिग्रह है । कहा है --- घ्जो यह मूर्छा है उसे ही परिग्रह जानना चाहिए । मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ममत्व परिणामको मूर्छा कहते हैं ग्रन्थकार आशाधरने अपनी संस्कृत टीकामें मोहसे चारित्रमोहनीय लिया है क्योंकि चारित्रमोहनीयके भेद लोभके उदयमें ही परिग्रह संज्ञा होती है । कहा है --- उपकरणके देखनेसे, उसके चिन्तनसे, मूर्छाभाव होनेसे और लोभकर्मकी उदीरणा होनेपर परिग्रह संज्ञा होती

है तत्त्वार्थ सूत्र ७।१७ में मूर्च्छाको परिग्रह कहा है। पूज्यपाद स्वामीने

उवयरणदंसणेण तस्सुवजोगेणे मूच्छिदाए य ।

लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ --- गो. जी. १३८ गा. ।

इत्येवं--- इतिशब्दः स्वरुपार्थः, एवंशब्दः प्रकारार्थः । तेनाहं याज्ञिकोऽहं, परिव्राडहं राजाहं पुमानहं स्त्रीत्यादि --- मिथ्यात्वादिविवर्ताभिनिवेशा गृह्यन्ते । खलु --- अतोऽपि न कोऽप्यन्मोऽहमिति ग्राह्यम् । आकिञ्चन्यं --- नैर्मल्यम् । सुसिद्धमन्त्रः --- ये गुरुपदेशानन्तरमेव स्वकर्म कुर्यात् । यदाहुः---

घसिद्धः सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना ।

सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरिं मूलान्निकृन्तति" []

धुन्वन्ति--- निगृह्णन्ति । चित्रं --- अकिञ्चनाश्च जगत्स्वामिनश्चेत्याश्चर्यम् ॥१०४॥

अथोभयपरिग्रहदोषख्यापनपुरस्सरं श्रेयोथिनस्तत्परिहारमुपदिशति ---

शोध्योऽन्तर्न तुषेण तण्डलु इव ग्रन्थेन रुद्धो बहि ---

जीवस्तेन बहिर्भु वाऽपि रहितो मूर्च्छामुपाच्छन् विषम् ।

निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि त्वेधते,

तद्ग्रन्थानबहिश्चतुर्दश बरिश्चोऽज्ज्ञेदश श्रेयसे ॥१०५॥

उसकी ख्याख्यामें बाह्य गाय, भैस, मणि, मुक्ता आदि चेतन- अचेतन वस्तुओंके और राग आदि उपाधियोंके संरक्षण, अर्जनके संस्कार रूप व्यापारको मूर्च्छा कहा है। इसपर - से यह शंका की गयी कि यदि मूर्च्छाका नाम परिग्रह है तब तो बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं कही जायेगी क्योंकि मूर्च्छासे तो आभ्यान्तरका ही ग्रहण होता है। इसके उत्तरमें कहा है --- उत्क कथन सत्य ही हैं क्योंकि प्रधान होनेसे अभ्यन्तर को ही परिग्रह कहा है। बाह्यमें कुछ भी पास न होनेपर भी मेरा यह हैड इस प्रकार संकल्प करनेवाला परिग्रह होता है। इसपर पुनः शंका हुई कि तब तो बाह्य परिग्रह नहीं ही हुई। तो उत्तर दिया गया कि ऐसी बात नहीं है। बाह्य भी परिग्रह हैं क्योंकि मूर्च्छाका कारण है। पुनः शंका की गयी --- यदियह मेरा हैड इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह कहलायेंगे क्योंकि जैसे राग आदि परिणाममें ममत्व भाव परिग्रह कहा जाता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमें भी ममत्व भाव होता है। तब उत्तर दिया गया कि जहाँ प्रमत्तभावका योग है वही मूर्च्छा है। अतः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रसे युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होता है। उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है अतः वह अपरिग्रही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आदि तो आत्माका स्वभाव है। उसे छोडा नहीं जा सकता अतः वह परिग्रहमें सम्मिलित नहीं है। किन्तु राग आदि तो कर्मके उदयसे होते हैं, वे आत्माके स्वभाव नहीं हैं अतः छोडने योग्य हैं। उनमेंयह मेरा हैड ऐसा संकल्प करना प्रसिद्ध है। यह संकल्प सब दोषोंका मुल है। यह मेरा हैड ऐसा संकल्प करना परिग्रह है। यह संकल्प होनेपर उसकी रक्षाका भाव होता है। उसमें

हिंसा अवश्य होती है। परिग्रहकी रक्षाके लिए उसके उपार्जनके लिए झूठ बोलता है, चोरी भी करता है अतः परिग्रह सब अनर्थोंकी जड है। उससे छुटकारा पानेका रास्ता है आर्क्चिन्यरुप सुसिध्द मन्त्रका निरन्तर अभ्यास। जो मन्त्र गुरुके उपदेशके अनन्तर तत्काल अपना काम करता है उस मन्त्रको सुसिध्द कहते हैं। कहा है --- जो काल पाकर सिध्द होता है वह सिध्द मन्त्र है। जो होम- जप आदिसे साधा जाता है वह साध्य मन्त्र है। और जो तत्क्षण शत्रुको मूलसे नष्ट कर देता है वह सुसिध्द मन्त्र है।

आर्क्चिन्य भाव परिग्रहका पाश छेदनेकेलिए ऐसा ही सुसिध्द है ॥१०४॥

दोनों ही प्रकारके परिग्रहोके दोष बताते हुए मुमुक्षुओंको उनको त्यागका उपदेश देते हैं ----

शोध्दः --- कर्ममलं कौण्डकं च त्याजयितुमशक्यः। रुध्दः--- आसत्किं नीतः छादितश्च।

शक्यो यथापनेतुं न कोण्डकस्तन्दुलस्य सतुषस्य।

न तथा शक्यं जन्तोः कर्ममलं सद्ग.सक्तस्य" []

गुणं--- अहिंसकत्वाभिगम्यत्वादिकम्। अबहिः--- आभ्यान्तरान्। तद्यथा ---

मिच्छत्तवेदरागा हस्सादिया य तह य छद्दोसा।

चत्तारि तह कसाया चउदसब्भंतरा गंथा ॥ [भ. आरा.१११८ गा.]

दश क्षेत्रादीन्। यदाह---

धक्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम्।

व्दिपदाः पशवो भाण्डं बाह्यया दश परिग्रहाः ॥ [सोम. उपा.४३३ श्लो.]

जैसे बाहरमें तुषसे वेष्टित चावल अर्थात् धान बाहरका छिलका दूर हुए बिना अन्दरसे शुध्द नहीं हो सकता, वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसत्क हुआ जीव अभ्यन्तर कर्ममलको छोडनेमें असमर्थ होनेसे अन्तःशुध्द नहीं हो सकता। इसपर - से यह शंका हो सकती है कि यदि ऐसी बात है तो बाह्य परिग्रह ही छोडना चाहिए, अन्तरंग परिग्रह नहीं छोडना चाहिए ? इसके उत्तरमें कहते हैं --- जैसे केंचुलीसे रहित भी सर्प विषधर होनेसे गुणी नहीं हो जाता किन्तु विष रहनेसे दोषी ही होती है, वैसे ही बाह्य परिग्रहसे रहित भी जीव यदि अन्दरमें ममत्व भाव रखता है तो अहिंसा आदि गुणोंका पात्र नहीं होता, किन्तु दोषोंका ही पात्र होता है। इसलिए चारित्रकी रक्षाके लिए और मोक्षकी प्राप्तिके लिए अन्तरंग चौदह और बाह्य दस परिग्रहोंको ठोडना चाहिए ॥१०५॥

विशेषार्थ --- बाह्य परिग्रहोको त्यागे बिना अन्तःशुध्दि उसी प्रकार सम्भव नहीं है जैसे धानके ऊपरका छिलका दूर हुए बिना धानके अन्दर चावलके ऊपरका लाल आवरण दूर होकर चावल स्वच्छ सफेद नहीं होसकता। कहा है --- घ्जैसे तुष (छिलका) सहित चावलके ऊपरका लाल छिलका दूर नहीं किया जा सकता वैसे ही परिग्रहमें आसत्क जीवका कर्ममल दूर नहीं किया जा सकता^f

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि केवल बाह्य परिग्रह ही छोड़ने योग्य हैं या बाह्य परिग्रहके छोड़नेसे अन्तरंग परिग्रहसे छुटकारा मिल जाता है। बाह्य परिग्रहकी तरह अन्तरंग परिग्रह भी छोड़ना चाहिए तथा उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। बाह्य परिग्रह छोड़ देनेपर भी यदि शरीरके प्रति भी ममत्व भाव बना रहा तो शरीरके नग्न रहनेपर भी परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता। अभ्यन्तर परिग्रह इस प्रकार हैं --- मिथ्यात्व --- वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अश्रद्धान, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद अर्थात् स्त्रीवेद नोकषायके उदयसे पुरुषमें, पुरुषवेद नोकषायके उदयसे स्त्रीमें और नपुंसकवेद नोकषायके उदयसे दोनोंमें रमणकी अभिलाषा, हास्य, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, शोक तथा चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। और खेत, गृह, धन--- सुवर्णादि, धान्य गेहूँ आदि, कुप्य वस्त्र आदि, भाण्ड--- हींग, मिर्चा आदि, दासदासी--- भृत्यवर्ग, हाथी चौपाये सवारी, शय्या- आसन ये दस बाह्य परिग्रह हैं। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें यानको नहीं गिनाया है और शय्या तथा आसनको अलग- अलग गिनकर दस संख्याकी पूर्ति की है।